इकाई (Unit)

1

अधिकार

(RIGHTS)

संरचना

- उद्देश्य (Objectives)
- परिचय (Introduction)
- अधिकार की अवधारणा (Concept of Rights)
- कानूनी अधिकार (Legal Rights)
- विधि का शासन (Rule of Law)
- **भारतीय कानून** (Indian Laws)
- दंड प्रक्रिया संहिता (Criminal Procedure Code)
- मौलिक अधिकारों की परिभाषा, महत्व अथवा उद्देश्य (Definition, Importance or Purpose of Fundamental Rights)
- मौलिक अधिकारों की प्रकृति एवं विशेषतायें (Nature and Peculiaritiess of the Fundamental Rights)
- मौलिक अधिकारों का वर्गीकरण (Classification of Fundamental Rights)
- विधायी प्रक्रिया (Legislative Process)
- सारांश (Summary)
  अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय का अध्ययन करने के पश्चात् आप निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दे पायेंगे –

- अधिकार की अवधारणा एवं परिभाषा दीजिए।
- नागरिक अधिकार और मानव अधिकार का अर्थ एवं अन्तर स्पष्ट कीजिए।
- कानूनी अधिकार से क्या अभिप्राय है?
- विधि का शासन तथा इसकी सीमाएं क्या हैं?
- भारतीय दंड प्रक्रिया संहिता से संबंधित विभिन्न तथ्यों का वर्णन कीजिए।
- मौलिक अधिकारों का अर्थ, महत्व तथा उद्देश्य पर प्रकाश डालिए।
- मौलिक अधिकारों की प्रकृति अथवा विशेषता बताइये।
- मौलिक अधिकारों का मूल्यांकन समझाइये।
- विधायी प्रक्रिया का स्पष्टीकरण दीजिए।

1.2. परिचय (Introduction)

अधिकार से तात्पर्य सामाजिक जीवन की उन परिस्थितियों से है जिनको हासिल किये बिना सामान्यत: कोई व्यक्ति पूर्ण आत्म-विकास की आशा नहीं कर सकता। अधिकार व्यवस्था न्याय की भावना पर आधारित होनी चाहिए। प्राचीन यूनानी नगर-राज्यों में केवल स्वतंत्रजनों को ही नागरिक अधिकार प्राप्त थे जो यह दर्शाते हैं कि यह न्याय की भावना पर आधारित नहीं था।

लोकतंत्र में सभी नागरिकों को समान विधिक अधिकार प्राप्त होते हैं अर्थात् कानून की दृष्टि से सभी नागरिकों की हैसियत समान है। वहीं दूसरी ओर, मानव अधिकार ऐसे अधिकार हैं जो प्रत्येक व्यक्ति की मानव मात्र होने के नाते प्राप्त होते हैं चाहे इसके लिए उपयुक्त कानूनी व्यवस्था की गई हो या न की गई हो।

संयुक्त राष्ट्र संगठन विभिन्न देशों में परस्पर मैत्रीपूर्ण संबंधों को बढ़ावा देने के लिए यह सुनिश्चित करता है कि सभी स्त्री-पुरुष को समान अधिकार प्रदान करके सामाजिक प्रगति, रहन-सहन के उपयुक्त स्तर और व्यापक स्वतंत्रता की व्यवस्था की जाए।

यद्यपि भारतीय संविधान में मूल अधिकारों की कोई परिभाषा नहीं दी गई है। परंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मानव के लिए वे अधिकार जो उसे सम्मानपूर्वक जीने में तथा प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए आवश्यक है, वे मूल अधिकार की श्रेणी में आते हैं।

1.3. अधिकार की अवधारणा (Concept of Rights)

अधिकार क्या हैं? (What are Rights)

व्यक्ति और राज्य के परस्पर संबंध (Relation between Individual and the State) पर विचार करने से दो बातों का पता चलता है—एक व्यक्ति को राज्य के लिए क्या-क्या कार्य करने आवश्यक हैं—ये उसके कर्त्तव्य कहलाते हैं: दूसरे राज्य का व्यक्ति को इन कर्त्तव्यों के बदले में क्या लाभ मिलने चाहिए—ये उसके अधिकार (Rights) हैं; संक्षेप में, **अधिकार राज्य से व्यक्ति को प्राप्त होने वाली नये अवसर तथा अनुकूल परिस्थितियाँ और अवसर हैं जिनसे उसे आत्म-विकास** (Self-Development) **में बढ़ाने में सहायता मिलती है। हेरल्ड जे० लास्की** के शब्दों में, ''अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियाँ हैं जिनके बिना आमतौर पर कोई व्यक्ति पूर्ण आत्म-विकास की आशा नहीं कर सकता।'' **अर्नेस्ट वार्कर** के विचार से, ''अधिकार न्याय की उस सामान्य व्यवस्था का परिणाम हैं जिस पर राज्य और उसके कानून आधारित हैं।'' **जी० डी० रिची** के अनुसार, ''नैतिक अधिकार यह संकेत देते हैं कि कोई दूसरों से क्या मांग (claim) कर सकता है, शर्त यह है कि उसे समाज की मान्यता प्राप्त हो। जब राज्य इस मांग को कानूनी मान्यता देता है तब वह कानूनी अधिकार कर रूप धारण कर लेती है।'' वास्तव में, अधिकार इस बात का प्रमाण हैं कि राज्य में व्यक्ति के महत्व को स्वीकार किया जाता है। जिस राज्य में व्यक्ति की गरिमा (Dignity) को स्वीकार नहीं किया जाता, उसमें व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं होते। फिर भी, किसी राज्य में कुछ वर्गों को अधिकारों से वंचित रखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, प्राचीन यूनानी नगर-राज्यों में केवल स्वतंत्रजनों (Freemen) को नागरिक अधिकार प्राप्त थे; वहाँ दासों, स्त्रियों तथा अन्य देशीयों (Aliens) को कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे। स्वाभाविक है कि ऐसी अधिकार-व्यवस्था न्याय की भावना पर आधारित नहीं होती।

सकारात्मक और नकारात्मक अधिकार (Positive and Negative Rights)

राज्य में व्यक्ति की विचार-शक्ति को बढ़ाने के लिए यदि सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था की जाती है तो इसे सकारात्मक अधिकार कहा जाता है। इस प्रकार सकारात्मक अधिकार व्यक्ति को यह संदेश देता है

कि राज्य की ओर से व्यक्ति के आत्मविश्वास को बढ़ावा देने के लिए क्या व्यवस्था की गयी है। परन्तु यदि

राज्य में व्यक्ति की जिन गतिविधियों पर राज्य की ओर से कोई प्रतिबंध नहीं होता, उन्हें नकारात्मक अधिकार की कोटि में रखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, चिकित्सा का अधिकार (Right of Medical Care), रोजगार का अधिकार (Right to Work), कानूनी सहायता का अधिकार (Right of Legal Aid) इत्यादि व्यक्ति के सकारात्मक अधिकार होंगे। सामान्यत: विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार (Right to Freedom of Thogught and Expression) से तात्पर्य है कि राज्य की ओर से व्यक्ति की इन गतिविधियों पर कोई रोक नहीं लगाई जाएगी; अत: यह एक नकारात्मक अधिकार है। इससे यह प्रकट नहीं होता कि व्यक्ति की गतिविधियों में राज्य की ओर से क्या सहायता दी जाएगी? **पूँजीवादी राज्य** (Capitalist State) **में नकारात्मक अधिकारों पर विशेष बल दिया जाता है; समाजवादी राज्य** (Socialist State) **में सकारात्मक अधिकारों पर। कल्याणकारी राज्य** (Welfare State) **के अंतर्गत नकारात्मक अधिकारों के साथ-साथ यथासंभव सकारात्मक अधिकारों की व्यवस्था भी की जाती है।**

नागरिक अधिकार और मानव अधिकार
(Civil Rights and Human Rights)

नागरिक अधिकार से तात्पर्य ऐसे अधिकार से हैं जो किसी राज्य के नागरिक (Citizen) को मात्र नागरिकता के आधार पर प्राप्त होते हैं। इस प्रकार के अधिकारों को कानून के द्वारा सुरक्षित किया जाता है। लोकतंत्र में सब नागरिकों की समान कानूनी हैसियत (Legal Status) स्वीकार की जाती है। दूसरे शब्दों में, नागरिक अधिकारों का सिद्धांत जाति (Race), धर्म (Religion), लिंग (Gender), भाषा (Language), संस्कृति (Culture), क्षेत्र (Region) इत्यादि के आधार पर किसी भी तरह के भेदभाव (Discrimination) का समर्थन नहीं करता है और बहुमत (Majority) तथा अल्पमत (Minority) के लिए समान अधिकारों की सुरक्षा की अपेक्षा करता है।

नागरिक अधिकारों में कानून के समक्ष समानता (Equality before the Law), **दैहिक स्वतंत्रता (Liberty of the Person)**, **वाणी, विचार और आस्था की स्वतंत्रता** (Freedom of Speech, Thought and Faith), **अभिव्यक्ति और सभा करने की स्वतंत्रता** (Freedom of Expression), **मुक्त विचार की स्वतंत्रता** (Freedom of Movement), **व्यापार और व्यवसाय की स्वतंत्रता** (Freedom of Trade and Profession), **अनुबंध की स्वतंत्रता** (Freedom of Contract) **और संपत्ति का अधिकार** (Right of Prperty) विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। **अन्य नागरिकों के साथ मिलकर सार्वजनिक सुविधाओं, सेवाओं तथा संपत्ति का प्रयोग करना भी प्रत्येक नागरिक का अधिकार माना जाता है।** यदि किसी समाज में किन्हीं अल्पसंख्यक-वर्गों को समान नागरिक अधिकारों से वंचित रखा जाता है तो वे इस भेदभाव के विरुद्ध **नागरिक-अधिकार-आंदोलन** (Civil Rights Movement) चला सकते हैं। उदाहरण के लिए, यू०एस०ए० में जब अश्वेत नागरिकों को लंबे समय तक समान नागरिक अधिकारों से वंचित रखा गया तो उन्होंने नागरिक-अधिकार आंदोलन चलाकर 1964 में ये अधिकार प्राप्त कर लिए।

वहीं, **मानव-अधिकार से तात्पर्य** ऐसे अधिकार से हैं जो **प्रत्येक मनुष्य को केवल मनुष्य के नाते प्राप्त हो जाते हैं,** चाहे इसके लिए कोई उपयुक्त कानूनी व्यवसथा की गई हो, या न की गई हो। इससे जाहिर है कि **मानव-अधिकारों का विचार क्षेत्र नागरिक अधिकारों की तुलना में अत्यंत विस्तृत है। वास्तव में** देखा जाए तो सभ्य मनुष्य अपनी तर्कबुद्धि (Reason) या अंतरात्मा (Conscience) की प्रेरणा से मनुष्य मात्र की विशेष गरिमा (Dignity) को मान्यता देते हैं, और यही विचार-अधिकारों की अवधारणा का मूल स्रोत है। व्यक्ति की नैतिक चेतना (Moral Consciousness) और सामाजिक चेतना

प्रकृति (Rational Nature) में निहित होता है। इस तर्क के आधार पर उसने अंतर्राष्ट्रीय कानून (International Law) की नींव रखी। फिर **टॉमस हॉब्स** (1588-1679) के शब्दों में, प्राकृतिक दशा (State of Nature) में मनुष्यों को असीम स्वतंत्रता प्राप्त थी, परंतु नागरिक समाज (Civil Society) की स्थापना के साथ ही उन्होंने अपनी प्राकृतिक स्वतंत्रता (Natural Liberty) का परित्याग कर दिया। हॉब्स के अनुसार, प्राकृतिक दशा में कानून और व्यवस्था (Law and Order) का कोई अस्तित्व नहीं था; यहाँ प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के विरुद्ध युद्ध की अवस्था में था। ऐसी स्थिति में प्राकृतिक अधिकार मनुष्य को कोई भी सुरक्षा प्रदान करने में असमर्थ थे। इन अधिकारों में था का त्याग करके ही समाज में नियमों के निर्माण और पालन की परंपरा शुरू हुई, और सुरक्षा की भावना का उदय हुआ। प्राकृतिक अधिकारों को वापस मांगने का मतलब होगा—उसी अराजकता (Anarchy) की स्थिति में लौट जाना। अत: **हॉब्स** ने तर्क दिया कि नागरिक समाज की स्थापना के बाद प्राकृतिक अधिकार समाप्त हो जाते हैं। इस तरह **हॉब्स ने पूर्णसत्तावाद** (Absolutism) **को बढ़ावा दिया।**

पूर्णसत्तावाद (Absolutism)

ऐसी शासन-व्यवस्था जिसमें शासक या शासक-वर्ग असीमित सत्ता का प्रयोग करता है; उसकी शक्ति किन्हीं कानूनी, सांविधानिक, प्रथागत या नैतिक मर्यादाओं से नहीं बँधी होती। जनता जनार्दन को चुपचाप शासक के आदेश या निर्णय का पालन करना होता है; उस पर कोई प्रश्न उठाने या उसका विरोध करने का कोई कारण नहीं होता।

प्राकृतिक अधिकारों के विचार को तर्कसंगत रूप में ढालने का श्रेय जॉन लॉक (1632-1704) **को जाता है।** लॉक ने तर्क दिया कि **'जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति का अधिकार'** (Rights to Life, Liberty and Property) मनुष्य की विवेकशील प्रकृति का अभिन्न अंग है; यह व्यक्ति के व्यक्तित्व में ही निहित है; इसे उससे पृथक नहीं किया जा सकता। इसी अधिकार की रक्षा के लिए राज्य एवं राजनीतिक संस्थाओं का निर्माण किया जाता है। अत: जब मनुष्य 'प्राकृतिक दशा' से 'नागरिक समाज' में प्रवेश करता है, तब वे अपने कुछ ही प्राकृतिक अधिकारों का त्याग करते हैं, समस्त प्राकृतिक अधिकारों का नहीं। **लॉक के अनुसार, नागरिक समाज का निर्माण करते समय मनुष्य यह वचन देते हैं कि वे अब से अपने कृत्यों** (Acts) का विश्लेषण तथा निर्याय स्वयं नहीं करेंगे। अपने इस प्राकृतिक अधिकार का परित्याग वे इस शर्त पर करते हैं कि उनके मूल प्राकृतिक अधिकारों—**अर्थात् 'जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति के अधिकार' की रक्षा राज्य के द्वारा की जायेगी।** इस तरह **राज्य की स्थापना एक 'धरोहर' या 'न्यास'** (Trust) **के रूप में की जाती है।** यह न्यास अपने कर्तव्य से बँधा रहता है। यदि वह अपने इस कर्तव्य की पूर्ति में विफल हो जाता है तो मनुष्य उस शासन (या सरकार) को हटाकर नया शासन स्थापित कर सकते हैं। इस तरह **लॉक ने 'प्राकृतिक अधिकारों'** को 'परम पावन' **(Sacrosanct) मानते हुए राज्य के विरुद्ध क्रांति के अधिकार** (Right of Revolution) को मान्यता दी है। लॉक की तर्क-प्रणाली के तीन महत्वपूर्ण हैं—

(1) 'प्राकृतिक कानून' के अंतर्गत सब मनुष्यों को समान अधिकार प्राप्त होते हैं, अत: कोई भी व्यक्ति केवल अपनी सहमति (Consent) से ही किसी अन्य व्यक्ति की राजनीतिक सत्ता (Political Authority) को स्वीकार कर सकता हैं

(2) सरकार का प्रमुख कार्य व्यक्तियों के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करना है; तथा

(3) व्यक्तियों के प्राकृतिक अधिकार सरकार की सत्ता की सीमा निर्धारित करते हैं। इसलिए जो सरकार अपने नागरिकों के प्राकृतिक अधिकारों की अवहेलना करती है, उसे आज्ञापालन कराने का कोई अधिकार नहीं रह जाता, और उसे हटा देना विधिसम्मत होता है।

प्राकृतिक अधिकारों के अन्य समर्थकों ने भी लॉक की इन मान्यताओं में अपना विश्वास बनाये रखा है। उदाहरणार्थ, **'अमरीकी स्वाधीनता की घोषणा'** (American Declaration of Independence) (1776) के अंतर्गत इस स्वयंसिद्ध सत्य की पुष्टि की गई थी कि ''सब मनुष्य जन्म से समान हैं; उनके जन्मदाता या सृजनकर्ता ने उन्हें कुछ अपरक्राम्य अधिकार (Inalienable Rights) प्रदान किए हैं; इनमें 'जीवन, स्वतंत्रता और सुख की साधना' (Life, Liberty and Pursuit of Happiness) का अधिकार सम्मिलित है। इन्हीं अधिकारों की सुरक्षा के लिए सरकारों की स्थापना की जाती है, और उन्हें अपनी न्यायसंगत शक्ति नागरिकों की सहमति से प्राप्त होती है। यदि कोई सरकार इन अधिकारों को नष्ट करने की ओर अग्रसर होती है तो जनसाधारण उस सरकार को भंग कर सकते हैं।'' फिर **'मानव तथा नागरिक-अधिकारों की फ्रांसीसी घोषणा'** (French Declaration of the Rights of Man and Citizen) (1789) के अंतर्गत भी ऐसे अधिकारों का दावा किया गया था जो 'प्राकृतिक, अहार्य और अपरक्राम्य' (Natural, Imprescriptible and Inalienable) हैं। दूसरे शब्दों में, ये अधिकार स्वयं प्रकृति की देन हैं; कोई इनका हरण नहीं कर सकता; और ये किसी दूसरे को हस्तांतरित नहीं किए जा सकते।

क्या प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत को मानव-अधिकारों का आधार मान सकते हैं? प्राकृतिक अधिकारों और मानव-अधिकारों की दो समानताएँ अत्यंत महत्वपूर्ण हैं—

(i) प्राकृतिक अधिकारों की तरह मानव-अधिकार का आधार भी तर्कबुद्धि (Reason) हैं; और

(ii) प्राकृतिक अधिकारों की तरह मानव-अधिकार भी पूर्ण (Absolute), अपरक्राम्य (Inalienable) और अहार्य (Imprescriptible) हैं; किसी अन्य अधिकार को मान्यता देते समय अधिकारों में कोई कटौती नहीं की जा सकती।

यद्यपि प्राकृतिक अधिकारों तथामानव अधिकारों में समानताएँ हैं फिर भी इनकी प्रकृति में अंतर है। प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत विश्व-इतिहास के उस दौर में रखा गया जब औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution) को बढ़ावा देने के लिए मानव संबंधों को नए रूप में ढालना जरूरी था। ये अधिकार तत्कालीन सामाजिक चेतना का परिणाम थे। इनका उद्देश्य नए उद्यमियों (Entrepreneurs) को राज्य के नियंत्रण से मुक्त कराना और पुराने कृषिदासों (Serfs) को उद्योगों में काम करने के लिए स्वतंत्र कराना था। इन्हें प्राकृतिक अधिकार इसलिए कहा जाता है क्योंकि ये मनुष्य की तर्कबुद्धि पर आधारित थे, और यह तर्कबुद्धि स्वयं प्रकृति की देन थी। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो, ये अधिकार केवल लाक्षणिक दृष्टि से प्राकृतिक थे। यदि ये वास्तव में प्राकृतिक होते तो इनका विचार सत्रहवीं शताब्दी के दार्शनिकों को ही क्यों आया; प्राचीन या आदिकालीन दार्शनिकों भी आ सकता था।

मानव अधिकारों का विकास
(Development of Human Rights)

अधिकारों का स्वरूप (Nature of Rights)	उपयुक्त व्यवस्था (Corresponding System)
● नागरिक अधिकार (Civil Rights)	सांविधानिक शासन (Constitutional Government)
● प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights)	बाजार-समाज व्यवस्था (Market Society System)
● राजनीतिक अधिकार (Political Rights)	लोकतंत्रीय राज्य (Democratic State)

● सामाजिक–आर्थिक अधिकार (Social-Economic Rights)	कल्याणकारी राज्य (Welfare State)
● मानव–अधिकार (Human Rights)	मानवीय विश्व–व्यवस्था (Human World Order)

अधिकारों के स्वरूप और सीमा क्षेत्र के बारे में जो विचार–परंपरा प्राकृतिक अधिकारों की संकल्पना के साथ शुरू हई, वह मानव–अधिकारों की संकल्पना के रूप में अपने तर्कसंगत परिणाम पर पहुँची है। प्राकृतिक अधिकारों के विचार के कारण अनुबंध की स्वतंत्रता (Freedom of Contract) को बढ़ावा मिला जिससे बाजार–समाज व्यवस्था (Market Society System) का जन्म हुआ। फिर, नागरिक अधिकारों के विचार ने सांविधानिक शासन (Constitutional Government) को बढ़ावा दिया। इसके बाद राजनीतिक अधिकारों के विचार ने लोकतंत्रीय राज्य (Democratic State) की नींव रखीं; और सामाजिक–आर्थिक अधिकारों की मांग से कल्याणकारी राज्य का उदय हुआ। अंतत: मानव–अधिकारों की चेतना एक मानवीय विश्व–व्यवस्था (Human World Order) की मांग करती है जिसे अब भी सार्थक किया जाना शेष है।

यहाँ यह जानना महत्वपूर्ण है कि मानव–अधिकारों की अवधारणा प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा के साथ प्रकट नहीं हुई। यह अवधारणा मुख्यत: बीसवीं शताब्दी के मध्य में प्रकट हुई। वस्तुत: **द्वितीय विश्व युद्ध** (1939-45) **के पश्चात मानव–अधिकारों की समस्या संपूर्ण विश्व के लिए चिंता का विषय बनकर उभरी है।** न्यूरमबर्ग मुकदमों (Nuremberg Trails) (1946) के दौरान जर्मनी के नाजियों पर युद्ध–अपराधों (War Crimes) के अलावा **'मानवता के विरुद्ध अपराधों'** (Crimes against Humanity) के लिए भी मुकदमे चलाए गए। इन मुकदमों के अभियुक्तों ने अपने देश के यहूदियों पर जो बर्बरतापूर्ण अत्याचार किए थे, उन्हें 'मानवता के विरुद्ध अपराध' माना गया। इस कार्यवाही का आधार यह था कि 'मानव अधिकार' अपने–आपमें मान्य हैं; ये किसी राष्ट्र के कानून से भी ऊपर हैं; तथा इनका उल्लंघन 'मानवता के विरुद्ध अपराध' माना जाएगा। इन अधिकारों की एक विस्तृत सूची 'मानव–अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा' (1948) के अंतर्गत प्रस्तुत की गई हैं।

इस सूची के अंतर्गत सब तरह के अधिकारों—नागरिक, राजनीतिक, कानूनी और सामाजिक–आर्थिक अधिकारों को एक–साथ सम्मिलित किया गया है। इस घोषणा का ध्येय विश्व के सब देशों को यह प्रेरणा देना है कि उन्हें अपने नागरिकों के लिए सब तरह के अधिकारों की विस्तृत व्यवस्था करनी चाहिए। परंतु इसका विचार क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है कि इससे उन मानव–अधिकारों की पहचान करने में विशेष सहायता नहीं मिलती जिनके साथ नागरिकता की शर्त नहीं जुड़ी होती।

मानव–अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा
(The Universal Declaration of Human Rights)

संयुक्त राष्ट्र संगठन (United Nations) की महासभा (General Assembly) ने दिसंबर, 1948 में मानव–अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा जारी की। इस संगठन ने अपने सदस्य–राष्ट्रों से आग्रह किया कि चाहे उनकी राजनीतिक स्थिति कैसी भी क्यों न हो, वे अपने–अपने देश में—विशेषत: स्कूलों और अन्य शिक्षा संस्थाओं में—इसका व्यापक प्रदर्शन और प्रचार करें। वास्तव में यह घोषणा एक स्वतंत्र, लोकतंत्रीय और कल्याणकारी राज्य के लिए उपयुक्त है, और मानव–अधिकारों की विस्तृत योजना प्रस्तुत करती है।

इस घोषणा में एक विस्तृत प्रस्तावना (Preamble) के अलावा 30 अनुच्छेद (Articles) हैं। इस प्रस्तावना के अनुसार – सब मनुष्यों की स्वाभाविक गरिमा एवं समानता और अपरक्राम्य अधिकारों (Inalienable Rights) को मान्यता देकर ही विश्व में स्वतंत्रता, न्याय और शांति की स्थापना की जा

सकती है। मानव-अधिकारों की अवहेलना और अवमानता का परिणाम ऐसे बर्बरतापूर्ण कृत्यों के रूप में सामने आया है जिन्होंने मानव जाति की अंतरात्मा को झकझोर दिया है। सर्वसाधारण की सबसे बड़ी आकांक्षा ऐसे विश्व का निर्माण करना है जिसमें मानव मात्र को अभिव्यक्ति और आस्था की स्वतंत्रता के साथ-साथ भय और अभाव से भी मुक्ति मिल सके। यदि मनुष्य को अत्याचार और उत्पीड़न के विरुद्ध-अंतिम उपाय के रूप में—विद्रोह के लिए विवश नहीं करना है तो यह आवश्यक है कि विधि के शासन (Rule of Law) के द्वारा उनके मानव-अधिकारों की रक्षा की जाए।

विधि का शासन (Rule of Law)

विधि का शासन से तात्पर्य ऐसी व्यवस्था से है जिसमें सब नागरिकों पर एक ही कानून लागू होता है; यह कानून सर्वविदित होता है; और सरकार अपनी शक्तियों का प्रयोग उस कानून से जुड़े हुए सिद्धांतों (Principles) और प्रक्रिया (Procedure) के अनुरूप करती है—उनसे हटकर नहीं।

संयुक्त राष्ट्र संगठन विभिन्न राष्ट्रों में परस्पर मैत्रीपूर्ण संबंधों को बढ़ावा देने के लिए यह आवश्यक समझता है कि समस्त स्त्री-पुरुषों को समान अधिकार प्रदान करके सामाजिक, प्रगति, रहन-सहन के उपयुक्त स्तर और व्यापक स्वतंत्रता की व्यवस्था की जाए। प्रस्तुत घोषणा के अंतर्गत मनुष्य के नागरिक और राजनीतिक अधिकारों तथा समान कानूनी संरक्षण को विशेष महत्व दिया गया है और उनकी विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। परंतु साथ ही इसमें सामाजिक-आर्थिक अधिकारों को यथोचित स्थान दिया गया है और इन सब अधिकारों को सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिए मनुष्य के कर्तव्यों को उल्लेख भी किया गया है।

अनुच्छेद 1 और 2 के अंतर्गत मानव मात्र को विवेकशील प्राणी मानते हुए उनकी गरिमा, स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृ-भावना पर बल दिया गया है; और यह मांग की गई है कि उनमें जाति, वर्ण, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीतिक विचारधारा, राष्ट्रीय या सामाजिक मूल, संपत्ति, जन्म या किसी अन्य स्थिति के आधार पर कोई भेदभाव न बरता जाए।

अनुच्छेद 3, 4 और 5 के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति के लिए जीवन, स्वतंत्रता और सुरक्षा के अधिकार के साथ-साथ यह व्यवस्था की गई है कि कोई किसी का दास नहीं होगा, और कोई किसी के साथ क्रूर, अमानवीय या अपमानजनक व्यवहार नहीं करेगा।

अनुच्छेद 6 से 11 तक कानून के समक्ष समानता (Equality before the law) सबके लिए समान कानूनी संरक्षण (Equal Protection of the Laws) और कानूनी उपचार के अधिकार की व्यवस्था की गई है; निराधार बंदीकरण तथा निर्वासन (Arbitrary Arrest and Exile) पर प्रतिबंध लगाया गया है और यह आग्रह किया गया है कि किसी पर कोई अभियोग लगाए जाने पर उचित कानूनी प्रक्रिया का अनुकरण होना चाहिए।

अनुच्छेद 12 के अंतर्गत गोपनीयता (Privacy) की सुरक्षा के लिए किसी व्यक्ति के घर, परिवार, पत्राचार, इत्यादि में अकारण हस्तक्षेप को निषेध किया गया है।

अनुच्छेद 13 और 14 में कहीं भी आने-जाने, रहने या बसने की स्वतंत्रता और उत्पीड़न से बचने के लिए विदेशों में शरण पाने के अधिकार की व्यवस्था है।

अनुच्छेद 15 में राष्ट्रीयता के अधिकार, 16 में परस्पर सहमति से विवाह करने और परिवार बढ़ाने के अधिकार तथा 17 में संपत्ति के अधिकार की व्यवस्था है।

अनुच्छेद 18, 19 और 20 के अंतर्गत विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, धार्मिक स्वतंत्रता तथा शांतिपूर्ण सभा करने और संघ बनाने की स्वतंत्रता सम्मिलित है।

अनुच्छेद 21 में अपना प्रतिनिधि चुनने और उसके माध्यम से देश के शासन में भाग लेने ओर सार्वजनिक पद प्राप्त करने का अधिकार रखा गया है। इसी के अंतर्गत जनता की इच्छा को सरकार की

सत्ता को आधार मानते हुए सार्वभौमिक मताधिकार (Universal Suffrage) की व्यवस्था की गई है। अत: यह अनुच्छेद लोकतंत्रीय शासन प्रणाली को मानव-अधिकार के आवश्यक लक्षण के रूप में मान्यता देता है।

इस तरह अनुच्छेद 1 से 21 तक की व्यवस्थाएँ विश्व के सभी मनुष्यों को उपयुक्त नागरिक, राजनीतिक और कानूनी अधिकार (Civil, Political and Legal Rights) प्रदान करने का संकल्प व्यक्त करती हैं, जो व्यक्ति की सुरक्षा और स्वतंत्रता का आधार हैं।

दूसरी ओर, अनुच्छेद 22 से 26 तक व्यक्ति के सामाजिक-आर्थिक अधिकारों (Social and Economic Rights) अर्थात् सकारात्मक अधिकारों (Positive Rights) की व्यवस्था की गई है। इनमें व्यक्ति के लिए विपत्ति के समय सामाजिक सुरक्षा (Social Security), रोजगार के अधिकार (Right of Work), समान कार्य के लिए समान वेतन, उपयुक्त पारिश्रमिक, आराम और अवकाश, रहन-सहन के उपयुक्त स्तर, माताओं ओर शिशुओं की विशेष देखभाल, शिक्षा के अधिकार ओर सही ढंग की शिक्षा की व्यवस्था पर बल दिया गया है।

अनुच्छेद 27 में सब मनुष्यों को समुदाय के सांस्कृतिक जीवन में भाग लेने और साहित्य, कला और विज्ञान की साधना करने की स्वतंत्रता और इसे लाभ उठाने का अधिकार दिया गया है। जहाँ तक यह अधिकार राज्य को लोगों की सांस्कृतिक गतिविधियों में हस्तक्षेप करने से रोकता है, वहाँ तक यह एक नकारात्मक अधिकार है। जब कोई राज्य अपने नागरिकों को साहित्य, संस्कृति, कला और विज्ञान का लाभ उपलब्ध कराने के लिए स्वयं व्यवस्था करता है, तब यह अधिकार सकारात्मक बन जाता है।

अनुच्छेद 28 का उद्देश्य इन अधिकारों को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उपलब्ध कराना है। अत: इस अनुच्छेद का संबंध अधिकारों के प्रयोग-क्षेत्र से हैं।

अनुच्छेद 29 और 30 में समुदाय के प्रति व्यक्ति के कर्तव्यों पर बल दिया गया है क्योंकि वहीं उसके व्यक्तित्व का स्वतंत्र और संपूर्ण विकास संभव है। यहाँ यह भी कहा गया है कि लोकतंत्रीय समाज में सभी व्यक्तियों को समान अधिकार और स्वतंत्रताएँ प्राप्त कराने के उद्देश्य से और नैतिकता, सार्वजनिक व्यवस्था एवं सामान्य हित की शर्तें पूरी करने के लिए व्यक्ति के अधिकारों और स्वतंत्रताओं पर उचित प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं क्योंकि किसी व्यक्ति या समूह को ऐसी गतिविधियों के लिए स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती जो अन्य व्यक्तियों के समान अधिकारों और स्वतंत्रता को नष्ट कर सकती हो। देखा जाए तो यह व्यवस्था मानव-अधिकारों की सामान्य योजना का ही तर्कसंगत परिणाम है। इस तरह यह घोषणा आधुनिक, लोकतंत्रीय, कल्याणकारी और सामाजिक न्यायपूर्ण व्यवस्था के लिए एक आदर्श रूपरेखा प्रस्तुत करती है।

यहाँ, यह बात उल्लेखनीय है कि संयुक्त राष्ट्र संगठन के एक सक्रिय तथा जिम्मेदार सदस्य होने के नाते भारत के संविधान के अंतर्गत न केवल मूल अधिकारों (Fundamental Rights) और राज्य के नीति निदेशक तत्वों (Directive Principles of State Policy) के रूप में इन सब अधिकारों का विधिवत् समावेश किया गया है, बल्कि यहाँ इन्हें अत्यंत प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया है। भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने अपने अनेक निर्णयों में संविधान की उपयुक्त व्यवस्थाओं के अतिरिक्त समय-समय पर मानव-अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा को उद्धत करते हुए इन निर्णयों में लोकतंत्रीय भावना के साथ-साथ सामाजिक न्याय को भी बढ़ावा दिया है। भारत सरकार ने मानव-अधिकारों की रक्षा और इनके बारे में सजगता (Awareness) को बढ़ावा देने के उद्देश्य से 1993 में राष्ट्रीय मानव-अधिकार आयोग (National Human Rights Commission) की स्थापना की है। यह आयोग भारत में मानव-अधिकारों की रक्षा के लिए सराहनीय कार्य कर रहा है।

'मानव-अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा' के अलावा अनेक अंतर्राष्ट्रीय समझौतों के अंतर्गत विश्व के राष्ट्रों ने मानव-अधिकारों के सम्मान का संकल्प व्यक्त किया है। इनमें 'मानव-अधिकार संबंधी यूरोपीय अभिसमय' (European Convention of Human Rights) (1950), 'नागरिक और राजनीतिक अधिकार संबंधी अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदा' (International Convenant on Civil and Political Rights) (1969), 'हेल्सिंकी समझौते' (Helsinki Accords) (1975) और 'जनवादी एवं मानव-अधिकार संबंधी अफ्रीकी अधिकार पत्र' (African Charter on People's and Human Rights) (1981) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। फिर, अनेक देशों के नागरिकों ने जनसाधारण के मानव-अधिकारों की रक्षा के गैर-सरकारी संगठन भी बना रखे हैं। उदाहरण के लिए, भारत में 'पीपल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज' और 'पीपल्स यूनियन फार डेमोक्रेटिक राइट्स' इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। एक गैर-राजनीतिक अन्तर्राष्ट्रीय मानवतावादी संगठन 'एमनेस्टी इंटरनेशनल'—'जिसका मुख्यालय लंदन में है—विश्वभर में राजनीतिक, धार्मिक और प्रजातीय उत्पीड़न (Political Religious and Racial Persecution) के शिकार लोगों पर होने वाले अन्याय तथा उत्पीडन के विरूद्ध आवाज उठाता है तथा संयुक्त राष्ट्र संगठन तथा यूरोपीय परिषद् (Council of Europe) के पास अपने प्रतिवेदन नियमित रूप से भेजता है।

मानव-अधिकारों की विस्तृत संकल्पना
(Broader Concept of Human Rights)

मानव-अधिकारों की संकल्पना को विश्व के विभिन्न मंचों पर मान्यता दी गई है तथा विभिन्न मानव अधिकारों को मोटे तौर पर छह श्रेणियों में रखा जा सकता है—

जीवन का अधिकार (Right of Life)—इसका अर्थ यह है कि किसी निर्दोष (Innocent) व्यक्ति को कोई शारीरिक यातना (Physical Torture) नहीं दी जाएगी या उसके प्राणों को कोई क्षति नहीं पहुँचायी जायेगी। इतना ही नहीं, उसके स्वास्थ्य और उसके प्राणों की रक्षा की जाएगी। जीवन का अधिकार मनुष्य का सर्वप्रथम प्राकृतिक अधिकार है; जीवन की सुरक्षा का अधिकार उसका सर्वोच्च नागरिक अधिकार है।

मानव-अधिकारों के प्रति बढ़ती हुई जागरूकता के कारण अब 'जीवन के अधिकार' की विस्तृत व्याख्या की जा रही है। उदाहरणार्थ भारतीय न्यायालय यह स्वीकार करने लगे हैं कि लोगों को स्वच्छ पर्यावरण प्रदान करना उनके 'जीवन के अधिकार' का अंग है। इतना ही नहीं, यदि कहीं शीत लहर के प्रकोप या लू के थपेड़ों से किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो यह उसके 'जीवन के अधिकार' का उल्लंघन है और इसके लिए संबंधित सरकार को दोषी ठहराया जा सकता है। फिर यदि पर्याप्त सुरक्षा (Security) के अभाव में किसी नागरिक को प्राणों की क्षति होती है तो यह भी उसके 'जीवन के अधिकार' का उल्लंघन होगा जिस पर समुचित कार्रवाई होनी चाहिए।

स्वतंत्रता का अधिकार (Right to Liberty)—व्यक्ति को विचार और अभिव्यक्ति, धर्म और आस्था, संघ बनाने, सभा करने और मुक्त विचरण का अधिकार उसका स्वतंत्रता का अधिकार है। लोकतंत्रीय प्रणालियों में इस अधिकार को नागरिक अधिकार के रूप में मान्यता दी जाती है।

संपत्ति का अधिकार (Right to Property)—व्यक्ति कानूनी तरीके से जिन भी भौतिक वस्तुओं को प्राप्त करता है, उन पर उसका अधिकार रहेगा, और राज्य उसके इस अधिकार की रक्षा करेगा। परंतु अब कहीं भी संपत्ति के अधिकार को पूर्ण अधिकार (Absolute Right) नहीं माना जाता। जो संपत्ति किसी व्यक्ति को दूसरों के जीवन पर नियंत्रण स्थापित करने में सहायता देती है या जो संपत्ति दूसरों के जीवन पर नियंत्रण स्थापित करके अर्जित की जाती है, उसे जन-हित (Public Interest) में नियोजित करने के लिए राज्य के द्वारा उसका अनिवार्य अधिग्रहण (Compulsory Acquistion) किया जा सकता है।

प्रति क्रूर व्यवहार पर भी आपत्ति उठाई जाती है, उसमें मनुष्यों पर जोर-जुल्म की अनदेखी कैसे की जा सकती हे?

सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकार (Social, Economic and Cultural Rights)—इनमें मुख्यत: शिक्षा, रोजगार, सामाजिक सुरक्षा, विश्राम, रहन-सहन और स्वास्थ्य के उपयुक्त स्तर का अधिकार सम्मिलित हैं। ये अधिकार मुख्यत: वर्तमान शताबदी की सामाजिक चेतना की देन हैं। इन अधिकारों की व्यवस्था सामाजिक न्याय (Social Justice) की समस्या के साथ जुड़ी है। इन्हें मानव-अधिकार माना जाए या न माना जाए—यह विवाद का विषय है। यह तर्क दिया जाता है कि तीसरी दुनिया के बहुत सारे देशों में संसाधनों के अभाव के कारण इन अधिकारों की व्यवस्था संभव नहीं है। जो अधिकार विश्व के कुछ हिस्सों के लोगों को दिलाए जा सकते हैं, कुछ हिस्सों के लोगों को नहीं दिलाए जा सकते—उन्हें मानव-अधिकार कैसे मान लिया जाए?

परंतु जब मानव-अधिकारों की संकल्पना 'आदर्श' अधिकारों के आधार पर की जाती है, तब वे सामाजिक जीवन के सर्वोत्तम लक्ष्यों को व्यक्त करते हैं। यदि आज विश्व के कुछ हिस्सों में इनमें से कुछ अधिकारों की व्यवस्था व्यावहारिक नहीं है, तो मानव-अधिकारों के नाते इनका महत्व कम नहीं हो जाता। ये सार्वजनिक नीति के मार्गदर्शक सिद्धांतों के रूप में विशेष रूप से सार्थक होंगे। जो राज्य संसाधनों के अभाव के कारण इस समय इनकी व्यवस्था नहीं कर पा रहा, उसे अपने दीर्घकालिक दायित्वों का बोध कराने के लिए इन अधिकारों को मान्यता देना जरूरी है।

फिर, समकालीन परिस्थितियों में मानव-अधिकारों के विचार क्षेत्र को बढ़ावा भी जरूरी हो गया हे। आज के युग में जीवन और स्वास्थ्य की रक्षा की समस्या और भी जटिल हो गई है। **आतंकवाद** (Terrorism), **नशीली दवाओं के अवैध व्यापार** (Drug Trafficking) **और पर्यावरण के प्रदूषण (Environmental Polution) के कारण जनसाधारण के जीवन को जो नए-नए खतरे पेदा हो गए हैं, उनसे मानव जीवन को सुरक्षा प्रदान करना भी आज के राज्यों का कर्तव्य है।** अत: इस सुरक्षा की व्यवस्था को भी मानव-अधिकारों में सम्मिलित करना तर्कसंगत होगा। परंतु जहाँ परंपरागत मानव-अधिकारों की रक्षा के लिए राष्ट्र-राज्यों के प्रयत्न पर्याप्त थे, **इन नए अधिकारों की प्रभावशाली व्यवस्था के लिए भूमंडलीय प्रयास** (Global Effort) **जरूरी होगा।**

समकालीन विश्व में मानव-अधिकारों के प्रति जो सजगता बढ़ी है, उसे हम अपनी सभ्यता की महान् उपलब्धि मान सकते हैं। परंतु कभी-कभी मानव-अधिकारों के नाम पर कुछ गलत प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया जाता है। उदाहरण के लिए, कभी-कभी मानव-अधिकारों की आड़ में घोर अपराधियों और आतंकवादियों को संरक्षण प्रदान करने की कोशिश की जाती है और उन लोगों के मानव-अधिकारों की बात भुला दी जाती है जिन्हें इन तत्वों के अमानवीय कृत्यों के कारण अपार कष्ट झेलना पड़ता है।

फिर, अनेक विकसित देश अपने यहाँ विकासशील देशों के माल के आयात पर इस बहाने प्रतिबंध लगा देते हैं कि उस माल के निर्माण में मानव-अधिकारों का उल्लंघन हुआ है—जैसे कि उसके निर्माण में बच्चों से या कैदियों से श्रम कराया गया है। ऐसे बहाने बनाते समय सच्चाई का पता लगाने की कोशिश नहीं की जाती।

जब मानव-अधिकारों का हवाला देकर किसी भी तरह के अन्याय को बढ़ावा दिया जाता है, तब वस्तुस्थिति के विश्लेषण में विशेष सावधानी जरूरी हो जाती है। इस मामले में निष्पक्ष छानबीन होनी चाहिए; केवल पत्र-पत्रिकाओं के संवाददाताओं या निहित स्वार्थों के प्रतिनिधियों की बात पर विश्वास नहीं कर लेना चाहिए। किसी शक्तिशाली देश को 'मानवतावादी हस्तक्षेप' के बहाने दूसरे देशों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने की अनुमति नहीं दी जा सकती।

1.3. कानूनी अधिकार (Legal Right)

भारतीय संविधान में मूल अधिकारों की कोई परिभाषा नहीं दी गई है। परंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मानव के लिए वे अधिकार जो उसे सम्मानपूर्वक जीने में तथा प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए आवश्यक है, वे मूल अधिकार की श्रेणी में आते हैं अर्थात् वे अधिकार जिनके बिना मानव जीवन के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती है, मूल अधिकार हैं। ''मूल अधिकार मनुष्य में प्राकृतिक रूप में अन्तर्निहित हैं।'' **गोलकनाथ (A.I.R. 1967 S.C. 1643)** के मामले में न्यायधिपति सुब्बाराव ने मौलिक अधिकारों को नैसर्गिक अधिकार माना है। न्यायधिपति श्री बेग का मत है कि ''मूल अधिकार वे आधारभूत अधिकार हैं जो नागरिकों के बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए अत्यंत आवश्यक हैं।'' इनके अभाव में व्यक्ति का बहुमुखी विकास संभव नहीं है। इस प्रकार प्राकृतिक अधिकार तथा व्यक्ति में अंतर्निहित अधिकार का दूसरा नाम मूल अधिकार है। संविधान में अनुच्छेद 14 से 18 तक समता का अधिकार, अनुच्छेद 19 से 22 तक में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, अनुच्छेद 23 से 24 तक में शोषण के विरुद्ध अधिकार तथा अनुच्छेद 29 में भाषा, लिंग या संस्कृति को सुरक्षित रखने का अधिकार मूल अधिकार के रूप में प्राप्त है। **उद्देश्य**—संविधान में मूल अधिकारों को समाविष्ट करने का उद्देश्य उन मूल्यों का संरक्षण करना है जो एक स्वतंत्र समाज के लिये आवश्यक हैं। मूल अधिकारों का संविधान में समाविष्ट करने का उद्देश्य है विधायिका एवं कार्यपालिका की शक्तियों पर अंकुश लगाना ताकि इन अधिकारों का किसी भी तरह उल्लंघन या अतिक्रमण न किया जा सके। संविधान में मूल अधिकारों से संबंधित उपबन्धों को समाविष्ट करने का उद्देश्य एक विधि-शासित सरकार की स्थापना करना है न कि मनुष्यों द्वारा संचालित सरकार की। न्यायाधीश सप्रू ने मूल अधिकारों के उद्देश्यों की व्याख्या करते हुए कहा है कि इन अधिकारों का उद्देश्य भारत में रहने वाले नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा और समानता प्रदान करना है।

उपरोक्त मूल अधिकार असीम (absolute) नहीं है अर्थात् भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकार असीमित और अप्रतिबंधित अधिकार नहीं हैं। संविधान में इस बात का ध्यान रखा गया है कि व्यक्ति को कोई ऐसा अधिकार प्रदान न किया जाए जिससे कि समाज में अराजकता और अव्यवस्था उत्पन्न हो जाए। संविधान जहाँ मूल अधिकारों का उल्लेख करता है वहीं उसने इन अधिकारों के प्रयोग की सीमाएँ भी निर्धारित कर दी हैं।

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 19 नागरिकों की स्वतंत्रताओं का उल्लेख करता है और इसी अनुच्छेद के ऊपर खंड 2 से 6 तक में उन आधारों को भी सम्मिलित किया गया है जिनके आधार पर राज्य उनकी स्वतंत्रताओं पर निर्बंधन लगा सकता है।

आपात् उदघोषणा के लागू किये जाने पर राष्ट्रपति अनुच्छेद 359 के अंतर्गत मूल अधिकारों को निलबिंत कर सकता है। परंतु अनुच्छेद 21 में प्रदत्त जीने की स्वतंत्रता को किसी भी हालत में निलंबित नहीं किया जा सकता है।

संसद अनुच्छेद 368 के अंतर्गत किसी भी मूल अधिकार को संशोधित कर सकता है। बशर्ते कि संशोधन से संविधान का मूल ढाँचा नष्ट न हो जाए।

कुछ अधिकार ऐसे हैं जो व्यक्ति के लिए अनिवार्य होते हैं। इन अधिकारों के बिना व्यक्ति का विकास नहीं हो सकता। वास्तव में मानव का यह अधिकार उसकी सत्ता में ही अंतर्निहित है। मनुष्य के जन्म के साथ ही ये अधिकार साथ-साथ चलना शुरू हो जाते हैं। ऐसा इसीलिए होता है कि ये अधिकार उनकी प्रकृति में अंतर्निहित हैं। मानव अधिकार आवश्यक रूप से मनुष्य की आरंभिक आवश्यकताओं पर आधारित है। राज्य द्वारा व्यक्ति के विकास तथा सम्मानपूर्वक जीने के लिए जो सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं

उन सुविधाओं का दूसरा नाम मानवाधिकार है। अत: हम कह सकते हैं कि जो बातें मनुष्य की प्रतिष्ठा के लिये आवश्यक हैं, वही मानवाधिकार है।

मूल अधिकार भी मानवाधिकार की तरह के ही ऐसे आधारभूत अधिकार हैं जो व्यक्ति के स्वतंत्र जीवनयापन के लिए अपरिहार्य हैं तथा व्यक्ति के पूर्ण बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक हैं। ये ऐसे अधिकार हैं जिनका राज्य द्वारा भी हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता है। मौलिक अधिकार नागरिकों के प्रति न्याय और उचित व्यवहार को सुरक्षा प्रदान करते हैं। ये व्यक्ति के जीवन तथा अन्य अधिकारों के आधार हैं। ये वे साधन हैं जिनके सहारे नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा होती है। इसके द्वारा नागरिक अपना सर्वांगीण विकास कर सकता है। अतएव यह स्पष्ट है कि मौलिक अधिकारों के द्वारा नागरिकों को राज्य की ओर से कुछ ऐसे मूलभूत अधिकारों का आश्वासन दिया जाता है जिनका उल्लंघन स्वयं राज्य भी नहीं कर सकता है। मूल अधिकारों के संबंध में पूर्व न्यायमूर्ति बेग का यह मत है—''मूल अधिकारों का मुख्य लक्ष्य एक स्वस्थ समाज की रचना करना है।'' मौलिक अधिकारों के संबंध में भूतपूर्व मुख्य न्यायधीश श्री सुब्बाराव का यह कहना है—''मौलिक अधिकार परंपरागत प्राकृतिक अधिकारों का दूसरा नाम है।''

भारतीय संविधान के अध्याय ३ के अंतर्गत मानवाधिकारों को मौलिक अधिकारों के रूप में समाविष्ट किया गया हैं। संविधान में मूल अधिकारों को समाविष्ट करने का उद्देश्य मानव मूल्यों का संरक्षण करना है। मूल अधिकार मानव के आधारभूत मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है और यह व्यक्ति की गरिमा का संरक्षण करता है जिससे प्रत्येक मानव अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके। भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त विभिन्न मूल अधिकारों में अनुच्छेद 14 से 18 तक समता का अधिकार समाहित किया गया है। इसमें विधि के समक्ष समता का अधिकार, अवसर की समानता तथा धर्म, जाति, लिंग, मूलवंश या जन्म के आधार पर भेदभाव नहीं किये जाने का एवं छुआछूत का उन्मूलन इत्यादि का अधिकार सम्मिलित है। अनुच्छेद 19 से 22 तक में नागरिकों को भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, सभा की स्वतंत्रता, संघ की स्वतंत्रता तथा जीवन एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता की सुरक्षा प्रदान की गई है। अनुच्छेद 23 एवं 24 के अंतर्गत प्रत्येक नागरिक को शोषण के विरुद्ध अधिकार प्रदान किया गया है। मानव-मानव के साथ मानवता का व्यवहार करे—अनुच्छेद 29 के द्वारा नागरिकों के प्रत्येक वर्ग को अपनी भाषा, लिंग या संस्कृति को सुरक्षित रखने का पूर्ण अधिकार प्रदान किया गया है। सबसे महत्वपूर्ण अधिकार संविधान के अनुच्छेद 32 के अंतर्गत संवैधानिक उपचारों के अधिकार के रूप में प्रदान किया गया है। अनुच्छेद 32 के अंतर्गत मौलिक अधिकारों की रक्षा एवं इसके कार्यांवयन करने की व्यवस्था की गई है। इस अनुच्छेद के अंतर्गत प्रत्येक नागरिक अपने अधिकारों को लागू करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय की शरण ले सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार वास्तव में मानवाधिकार है। इस बात की पुष्टि ''मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम 1993'' की धारा 2 (1) (छ) के अंतर्गत दी गई परिभाषा से भी होती है। इस धारा के अनुसार, मानवाधिकार से अभिप्राय संविधान द्वारा प्रदत्त तथा अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदाओं में सम्मिलित तथा न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय उन अधिकारों से है जो व्यक्तियों के जीवन, स्वतंत्रता, समानता एवं गरिमा से है।'' इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार मानवाधिकार की श्रेणी में आते हैं। मानवाधिकार एवं मूल अधिकार एक-दूसरे के लिये पर्यायवाची हैं। मानवाधिकार एवं मौलिक अधिकार एक ही सिक्के के दो पहलू है। अत: जहाँ मानवाधिकारों का उल्लंघन होता है वहाँ मूल अधिकारों का भी उल्लंघन होता है।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की सीमाएँ (प्रतिबंध)

नागरिकों के भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अर्थ यह नहीं होगा कि वह जो चाहे कहे। अनुच्छेद 19 (2) भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित करता है। विचार एवं अभिव्यक्ति की

स्वतंत्रता का दुरुपयोग न हो इसके लिए अनुच्छेद 19 (2) के अंतर्गत कुछ प्रतिबंध लगाये गये हैं। मूल संविधान में विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता काफी व्यापक थी। परंतु प्रथम संशोधन अभिनियम 1951 द्वारा विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित किया गया है। 16वें संशोधन अधिनियम द्वारा इस पर एक और प्रतिबंध लगा दिया गया है कि यदि कोई व्यक्ति भारतीय प्रदेश से किसी भाग को अलग करने का प्रचार करे तो राज्य उसके विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित कर सकता है। परंतु ये प्रतिबंध युक्तिसंगत होना चाहिए।

चिन्तामणि राव बनाम मध्य प्रदेश राज्य (A.I.R. 1953 S.C. 118) के वाद में यह निर्धारित किया गया कि नागरिकों के अधिकार पर लगाये गये निबंधन अन्यायपूर्ण या सामान्य जनता के हित में जितना अपेक्षित है उससे अधिक नहीं होना चाहिए। इस प्रकार अनुच्छेद 19 (1) (क) एक ओर भारत के नागरिकों को भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रदान करता है तो वहीं अनुच्छेद 19 (2) के द्वारा इस पर कुछ प्रतिबंध भी लगाया है।

अनुच्छेद 19(2) के अंतर्गत निम्नलिखित में से किसी आधार पर नागरिकों के भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाये जा सकते हें—(1) अगर उससे भारत का प्रभुत्व और अखंडता प्रभावित होती है। (2) अगर राज्य की सुरक्षा खतरे में पड़ती है। (3) अगर विदेशी राज्यों के मैत्रीपूर्ण संबंधों के हित के विपरीत हो। (4) अगर लोक व्यवस्था के हित के विरुद्ध हो। (5) अगर यह शिष्टाचार या सदाचार के विरुद्ध हो। (6) इससे अगर न्यायालय का अपमान होता हो या (7) इससे अपराध की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता हो।

भारतीय संविधान में अमेरिका के संविधान की तरह प्रेस की स्वतंत्रता का स्पष्ट उल्लेख स्वतंत्र रूप से किसी अनुच्छेद में नहीं किया गया है। परंतु संविधान के अनुच्छेद 19 (1) (क) में भारतीय नागरिकों को भाषण एवं अपना विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता प्रदान की गई है। प्रेस भी विचारों के प्रचार का एक साधन है। अत: इसी अनुच्छेद में प्रेस की स्वतंत्रता भी शामिल है। भाषण एवं विचारों की अभिव्यक्ति की यह स्वतंत्रता केवल अपने ही विचारों के प्रसार की स्वतंत्रता भी शामिल है। भाषण एवं विचारों की अभिव्यक्ति की यह स्वतंत्रता केवल अपने ही विचारों के प्रसार की स्वतंत्रता तक सीमित नहीं है, बल्कि इस स्वतंत्रता में दूसरे के विचारों के प्रसार एवं प्रकाशन की स्वतंत्रता भी सम्मिलित है। विचारों को आम जनता तक पहुँचाना समाचार-पत्रों के द्वारा ही संभव हो सकता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए उच्चतम न्यायालय ने समय-समय पर निर्णय देकर यह स्पष्ट किया है कि भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में प्रेस की स्वतंत्रता भी शामिल है। **साकल पेपर्स लि० बनाम भारत संघ** (A.I.R. 1962 के S.C. 305) के वाद में यह निर्धारित किया गया है कि भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में प्रेस की स्वतंत्रता भी शामिल है।

समाचार-पत्र विचारों की अभिव्यक्ति का एक महत्वपूर्ण साधन है। समाचार-पत्र अगर स्वतंत्रत नहीं रहे तो स्वस्थ प्रजातंत्र की कल्पना तक नहीं की जा सकती। समाचार-पत्र राजनीतिक चेतना को जगाते हैं। अत: प्रेस की स्वतंत्रता राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए भी आवश्यक है। प्रेस की स्वतंत्रता प्रजातंत्र की कुंजी है। प्रेस एक सजग प्रहरी के रूप में कार्य करता है। प्रेस के माध्यम से ही लोकमत स्पष्ट होता है। **प्रिन्टर्स (मैसूर) लि० बनाम असिस्टेन्ट कामर्शियल टैक्स ऑफिसर (1994 2 S.C.C. 434)** के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि प्रेस की स्वतंत्रता अन्य स्वतंत्रताओं से उच्च स्तर की है।

मूल संविधान में विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का क्षेत्र बहुत व्यापक था। परंतु 'प्रथम' संशोधन अधिनियम 1951 एवं 16वें संशोधन अधिनियम 1963 के द्वारा विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित कर दिया गया है। पुन: आपातकाल में प्रेस द्वारा संसद और राज्य विधान मंडलों की

पा सकते। अत: वासनाओं की उपस्थिति के कारण श्रेष्ठतम व्यक्ति का शासन भी श्रेष्ठता की उस उच्च पराकाष्ठा तक नहीं पहुँच सकता जितना कि कानून पर आधारित शासन उच्च होता है। यूनानी चिन्तकों में संभवत: अरस्तु कानून का सर्वाधिक निष्ठावान उपासक था। सेबाइन के शब्दों में, ''कानून की सम्प्रभुता को अरस्तु ने एक अच्छे राज्य के चिह्न के रूप में स्वीकार किया है न कि एक दुर्भाग्यपूर्ण आवश्यकता के रूप में।''

ऐंग्लो-सैक्सन कहलाने वाले देशों—अर्थात् यूनाइटेड किंगडम, ब्रिटिश स्वशासी डोमिनियन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के नागरिक जिन कानूनी सुरक्षा का उपभोग करते हैं, उनमें से एक 'विधि के शासन' का सिद्धांत भी हे। 'विधि के शासन' की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या **डायसी** ने अपनी 'लॉ ऑफ दी कांस्टीट्यूशन' (Law of the Contitution) में की है, उसके अनुसार 'विधि के शासन' के तीन अर्थ हैं—

1. कोई भी व्यक्ति कानून से ऊपर नहीं है—''विधि के शासन के अनुसार देश में कानूनी समानता है, अथवा सभी लोगों का साधारण न्यायालयों द्वारा प्रयुक्त देश के सामान्य कानून के अधीन होता है।'' इस सिद्धांत का आशय यह है कि विधि धनवान और निर्धन के बीच कोई अंतर नहीं करती, क्योंकि ''प्रधानमंत्री से लेकर पुलिस के सिपाही तक अथवा करों के संग्रहकत्र तक प्रतयेक अधिकारी वैध औचित्य के बिना किए गए प्रत्येक कार्य के लिए उसी भाँति उत्तरदायी है जैसे कि कोई अन्य नागरिक।'' फ्रांस की 'प्रशासनिक विधि' में ऐसा संभव नहीं है। इंग्लैंड में कर्मचारीगण सामान्य न्यायालय के सामने लाए जा सकते हैं और वैध सत्ता की सीमा से बाहर किए गए कार्यों के लिए दंड दिया जा सकता है अथवा उनसे हरजाना लिया जा सकता है। **हीगने** और **पौबेल** के अनुसार, ''जो व्यक्ति सरकार के अंग हैं वे मनचाहा नहीं कर सकते। उन्हें संसद द्वारा बनाए हुए नीति नियमों के अनुसार ही अपनी शक्ति का उपयोग करने की स्वतंत्रता है।''

2. बिना अपराध के दंड नहीं दिया जाना—विधि के शासन के अनुसार, ''व्यक्ति को कानून के उल्लंघन के लिए दंड दिया जा सकता है, अन्य किसी बात के लिए नहीं।'' इसका अर्थ यह है कि किसी व्यक्ति को तब तक दंड नहीं दिया जा सकता और न उसके शरीर या संपत्ति को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाई जा सकती है, जब तक कि उसने कानून का उल्लंघन न किया हो और यह किसी साधारण न्यायालय द्वारा साधारण ढंग से साबित न किया गया हो।

3. संविधान के सामान्य सिद्धांत न्यायिक निर्णयों के परिणाम हैं—विधि के शासन की तीसरी शर्त है कि ब्रिटेन के संविधान के सामान्य सिद्धांत न्यायाधीशों के निर्णयों के परिणामस्वरूप हैं जो कि उनके सामने लगाए गए अभियोगों में सामान्य व्यक्तियों के अधिकारों का निरूपण करते हैं। दूसरे शब्दों में, संविधान की व्याख्या अथवा अन्य किसी भी कानूनी मुद्दे पर न्यायाधीशों का निर्णय अंतिम और सर्वमान्य होगा।

पहला, अर्थ देश में पूर्ण कानूनी समानता स्थापित करता है। सभी नागरिक, चाहे वे साधारण व्यक्ति हों या सरकारी कर्मचारी, देश की साधारण विधि के अधीन हैं और उन पर लगाए गए आरोपों की सुनवाई साधारण न्यायालयों द्वारा ही होगी। **दूसरा**, अर्थ नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं की रक्षा करता है, यह कार्यपालिका को स्वेच्छाचारी बनने से रोकता है। **तीसरा**, अर्थ इस बात की ओर संकेत करता है कि भारत और अमेरिका के विपरीत, ग्रेट ब्रिटेन में संविधान नागरिकों को मूल अधिकारों की लिखित गारंटी नहीं देता। फिर भी इंग्लैंड में नागरिकों को अधिकतम स्वतंत्रता प्राप्त है। इसका श्रेय उस देश के न्यायिक निर्णयों को जाता है। न्यायालयों के महत्वपूर्ण निर्णय संविधान के अंग बन जाते हैं। इस प्रकार ''संविधान नागरिकों के अधिकारों का स्रोत न होकर परिणाम है।''

विधि के शासन की सीमाएँ
(Limits of the Rule of Law)

इंग्लैंड के संविधान और शासन के अंतर्गत सिद्धांत और व्यवहार में भारी अंतर पाया जाता है और विधि के शासन पर भी यह बात लागू होती है। सैद्धांतिक दृष्टि से विधि के शासन के अनुसार इंग्लैंड का प्रत्येक नागरिक कानून की दृष्टि से समान है। राजा से लेकर निर्धनतम व्यक्ति तक सभी विधि के नियंत्रण में हैं, सभी के लिए एक ही प्रकार के कानून और एक ही प्रकार के न्यायालय हैं, किंतु आचरण की दृष्टि से सभी बातें निर्मूल हैं। कई ऐसी बातें भी हैं जो विधि के शासन से मेल नहीं खातीं और उनके आधार पर हम डायसी के इस विचार से सहमत नहीं हो सकते कि इंग्लैंड में विधि शासन सर्वोच्च है। विधि के शासन के अपवाद निम्नलिखित हैं—

1. अधिकारियों की विवेकात्मक शक्ति (Discretionary Power of Authorities)—'विधि के शासन' की व्याख्या करते हुए डायसी ने प्रतिपादित किया है कि ''विधि का शासन इस बात के विरुद्ध है कि अधिकारियों को शक्ति के व्यापक, स्वेच्छापूर्ण तथा विवेकगत प्रयोग का अधिकार प्राप्त हो।'' डायसी के इस कथन के अनुसार ब्रिटेन में विधि के शासन की व्यवस्था होने के कारण अधिकारी वर्ग को कोई विवेकात्मक शक्ति प्राप्त नहीं होनी चाहिए। किंतु वास्तविकता यह है कि ब्रिटेन में भी वर्तमान समय में राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक हो गया है और सरकारी अधिकारी अपने उत्तरदायित्वों को पूरा कर सकें, इस दृष्टि से अपने विवेक के अनुसार कार्य करने की छूट देना नितांत आवश्यक हो गया है। ब्रिटेन में भी प्रशासनिक अधिकारियों को विवेकात्मक शक्ति प्राप्त होने के कारण विधि के शासन की धारणा सीमित हो गई है।

2. लोक सेवा अधिकारियों के संबंध में विशेष स्थिति (Special Position of the Persons of Public Services)—विधि के शासन का तात्पर्य यह है कि सामान्य व्यक्तियों और लोक अधिकारियों में कोई अंतर नहीं किया जाना चाहिए, लेकिन ब्रिटेन में भी लोक अधिकारियों को एक सीमा तक विशेष स्थिति प्राप्त है। इंग्लैंड में 1893 में 'लोक अधिकारी संरक्षण अधिनियम' (The Publie Authorities Protection Act) पारित किया गया, जिसके अनुसार किसी सरकारी कर्मचारी के विरुद्ध कोई भी कार्यवाही उसके द्वारा किए गए अपराध के छह मास की अवधि के अंदर ही की जानी चाहिए, अन्यथा यह काल तिरोहित (Time-barred) हो जाती है। साथ ही साथ, यदि सरकारी कर्मचारी पर चलाया गया अभियोग सत्य सिद्ध न हो सके, तो अभियोग चलाने वाले व्यक्ति को उसका खर्च देना होता है। ऐसी दशा में भी व्यक्ति सरकारी कर्मचारी के विरुद्ध अभियोग चलाने का साहस ही नहीं करता। सरकारी अधिकारियों को कुछ सीमा तक प्राप्त इस विशेष स्थिति के कारण विधि के शासन की धारणा सीमित हो गई है।

3. प्रदत्त व्यवस्थापन (Delegated Legislation)—इन सबके अतिरिक्त, पिछले लगभग 40-50 वर्षों में राज्य के कार्यों और उसके परिणामस्वरूप कानूनों की संख्या अधिक बढ़ जाने के कारण व्यवस्थापिका के द्वारा अपनी कानून-निर्माण की शक्ति का एक बड़ा भाग कार्यपालिका को सौंप दिया गया है, जिसे प्रदत्त व्यवस्थापन कहते हैं। यह प्रदत्त व्यवस्था भी विधि के शासन को सीमित ही करती है, क्योंकि डायसी द्वारा प्रतिपादित विधि के शासन का अर्थ यह है कि प्रशासन का प्रत्येक कार्य या तो सामान्य कानून अथवा संसदीय कानून द्वारा अधिकृत होती। किंतु प्रदत्त व्यवस्थापन की उक्त व्यवस्था के अंतर्गत प्रशासन स्वयं द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार ही कार्य करता है। वर्तमान समय में प्रदत्त व्यवस्थापन की उपयोगिता सभी पक्षों के द्वारा स्वीकार कर ली गई है और प्रदत्त व्यवस्थापन की इस व्यवस्था से **'विधि के शासन'** को निश्चित रूप से बहुत आघात पहुँचा है।

4. प्रशासनिक नियम और न्यायालय (Administrative Rules and Courts)—विधि के शासन का एक पक्ष यह है कि सामान्य व्यक्ति और राजकीय पदाधिकारी, दोनों के लिए एक ही प्रकार की

विधि और एक ही प्रकार के नयायालय हों। किंतु व्यवहार के अंतर्गत वर्तमान समय में ब्रिटेन में ऐसी बात नहीं है। पिछली लगभग दो पीढ़ियों में ब्रिटिश संसद ने राष्ट्रीय बीमा अधिनियम, मकान अधिनियम, किराया अधिनियम और सड़क यातायात अधिनियम आदि के रूप में अनेक कानूनों का निर्माण किया है और इन कानूनों ने नागरिकों तथा विभागीय अधिकारियों के पारस्परिक संबंधों को एक विशेष दिशा प्रदान की है, जो प्रशासनिक नियमों और न्यायाधिकरणों की ओर ही जाती है।

डोनमोर समिति के द्वारा 1932 में प्रकाशित (The Donughmore Committee Report) अपनी रिपोर्ट में कहा गया था कि प्रशासनिक न्यायाधिकरण सामान्य न्यायालयों की अपेक्षा शीघ्रतापूर्वक और कम खर्च में कार्य करते हैं और यह एक तथ्य है। इन प्रशासनिक न्यायाधिकरणों द्वारा अर्द्ध-न्यायिक रूप में कार्य किया जाता है और ब्रिटेन में इस प्रकार के प्रशासनिक न्याय का अनेक विषयों के संबंध में उदय हो रहा है।

1946 के 'राट्रीय बीमा अधिनियम' के अनुसार बीमा अधिकारी के निर्णय के विरुद्ध अपील, स्थानीय अपील न्यायाधिकरण में की जा सकती है, जिसमें उस क्षेत्र के नियोक्ता और कर्मचारी दोनों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों। बीमा अधिकारी या दावेदार के द्वारा आगे अपील 'औद्योगिक विवाद कमिश्नर' के सम्मुख की जा सकती है। राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के अन्तर्गत ऐसे न्यायाधिकरणों की स्थापना की गई जिनके द्वारा इस बात का निर्णय किया जाता हे कि एक विशेष क्षेत्र में कोई चिकित्सक चिकित्सा संबंधी कार्य कर सकता है अथवा नहीं। 'मूल्य निर्धारण अधिकारी' (Valuation Officer) मकान के मूल्य का निर्धारण कर सकता है, जिसके आधार पर उस मकान का किराया निश्चित किया जाता है। इस अधिकारी के निर्णय के विरुद्ध अपील 'मूल्य निर्धारण न्यायालय' (Valuation Court) में की जा सकती है।

इस प्रकार के प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की संख्या बढ़ती जा रही है और वर्तमान समय में समस्त ब्रिटेन में इस प्रकार के 'प्रशासनिक न्यायाधिकरणों' की संख्या लगभग 2,000 है। इन न्यायधिकरणों में लगभग 1 लाख 20 हजार विवादों की सुनवाई प्रतिवर्ष की जाती है। इन प्रशासनिक न्यायाधिकरणों के सदस्यों की नियुक्ति सामान्यतया संबंधित विभाग के मंत्री द्वारा की जाती है, लेकिन कुछ अधिक महत्वपूर्ण न्यायाधिकरणों के सदस्यों की नियुक्ति सम्राट या लॉर्ड चांसलर के द्वारा की जाती है।

इस प्रकार के समस्त प्रशासनिक न्यायाधिकरणों के ऊपर एक **'न्यायाधिकरणों की परिषद्'** (Council on Tribunals) की स्थापना की गई है। इस परिषद् में 15 सदस्य होते हैं, जिनकी नियुक्ति लॉर्ड चांसलर के द्वारा की जाती है।

विधि के शासन की अन्य भी कुछ सीमाएँ हैं—

5. **इंग्लैंड के सम्राट** के विरुद्ध किसी भी न्यायालय में कोई अभियोग नहीं चलाया जा सकता और उसे कभी भी किसी न्यायालय के सम्मुख पेश नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार सम्राट अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग करने में भी स्वतंत्र है।

6. **विधि का शासन विदेशी शासकों तथा राजदूतों पर लागू नहीं होता।** देश के कानून का उल्लंघन किए जाने पर भी उन पर किसी न्यायालय में अभियोग नहीं चलाया जा सकता और न ही किसी विदेशी जहाज के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही की जा सकती है।

7. **गृहमंत्री** को यह अधिकार है कि वह किसी भी विदेशी नागरिक को ब्रिटिशा प्रजा होने का प्रमाण पत्र दे सकता है, किसी के प्रमाणपत्र को रद्द कर सकता है या अवांछित विदेशी को देश से बाहर निकाल सकता है। इन सब कार्यों के लिए उसके विरुद्ध कोई अभियोग नहीं चलाया जा सकता।

8. **सैनिक बल के सदस्यों** पर सैनिक विधियों का नियंत्रण होता है और उनका अभियोग सैनिक न्यायालय में ही निर्णीत होता है। चिकित्सक सर्वसाधारण चिकित्सक परिषद के अधीन होते हैं और

प्रतिष्ठित धर्मोपदेशक धर्मपरक न्यायालयों के। ये सभी तथ्य सामान्य कानून और सामान्य न्यायालय के क्षेत्र को सीमित कर देते हैं।

वास्तव में, आज इंग्लैंड में उस रूप में विविध का शासन विद्यमान नहीं है, जिस रूप में डायसी के द्वारा उसका चित्रण किया गया है।

1.6. भारतीय कानून (Indian Laws)

जब कोई मौखिक या लिखित बयान न्यायिक दंडाधिकारी के समक्ष इस उद्देश्य से किया जाए कि किसी व्यक्ति के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही की जाए तो ऐसे ही मौखिक या लिखित बयान को परिवाद की संज्ञा देते हैं।

दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 211 से 244 तक में आरोप के संबंध में विभिन्न प्रावधान किए गए हैं। संहिता की धारा 211 एवं 212 में वर्णित विशिष्टयाँ अभियुक्त पर लगाए गए आरोप के बारे में समुचित जानकारी देने के लिए यदि अपर्याप्त हो, तो मजिस्ट्रेट द्वारा आरोप का उस रीति का उल्लेख किया जाना चाहिए, जिसमें अभिकथित अपराध किया गया हो ताकि अभियुक्त को उसके विरुद्ध लगाए गए आरोप की स्पष्ट जानकारी हो जाए।

1.7. नागरिक अधिकार (Civil Rights)

नागरिक अधिकार के अन्तर्गत वे समस्त अधिकार आते हैं जो उसे किसी देशका नागरिक होने के चलते हासिल होते हैं। जेसे— मतदान करने का अधिकार इत्यादि।

(a) मौलिक विधि (Substantive Law)

मौलिक विधि का तात्पर्य एक वैधानिक अथवा लिखित कानून से है जो प्रत्येक नागरिक (व्यक्ति) के अधिकार तथा कर्त्तव्यों को परिभाषित करता है; जैसे कि- अपराध तथा दण्ड, सिविल अधिकार तथा दायित्व। मौलिक विधि, विधिक प्रक्रिया की ठीक उल्टी है जो कि इन अधिकारों तथा उत्तरदायित्वों को लागू कराने की एक क्रियाविधि है उदाहरण के लिए— दण्ड संहिता एक मौलिक विधि है जबकि दंड प्रक्रिया संहिता एक विधिक प्रक्रिया है। दूसरे शब्दो में, इसमें व्यवस्थादी गयी है कि भारतीय दंड संहिता या किसी अन्य अधिनियम के अधीन वाले सभी अपराधों का अन्वेषण, जाँच, विचारण आदि इस सहिता में दिये गये उपबंधों के अनुसार ही होंगे। दंड संहिता में उल्लिखित अपराधों पर कार्यवाही दंडिक न्यायालयों में की जाती है और भारत के किसी ऐसे व्यक्ति को जिसने कोई अपराध किया है भारतीय दंड संहिता में दी गयी व्यवस्था के अनुसार तथा दंड प्रक्रिया में वर्णित विधि से दंडित किया जा सकता है।

(b) विधिक प्रक्रिया (Procedural Law)

किसी दीवानी (सिविल) मुकदमें या आपराधिक मुकदमें में या फिर प्रशासकीय कार्यवाही में एक सुनिश्चित प्रक्रिया का पालन करना आवश्यक होता है। इसी को विधिक प्रक्रिया (Procedural law) कहा जाता है। ये प्रक्रियाएँ इस प्रकार निर्धारित की गयी होती हैं कि सभी मामलों में एक समान एवं उचित प्रक्रिया का पालन हो।

उदाहरण के लिए— दण्ड प्रक्रिया (Criminal Procedure)। यह सिद्ध करने के लिए कि किसी व्यक्ति ने कोई अपराध किया है, जो प्रक्रिया अपनायी जाती है अथवा अपनायी जानी चाहिए, उस प्रक्रिया को दण्ड प्रक्रिया कहा जाता है। भारत में इसके लिए दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 प्रयोग की जाती है।

(c) सिविल कानून (Civil Law)

सिविल कानून के अन्तर्गत वे भी कानून आते हैं जो अपराधकानून नहीं हैं। जैसे व्यावसायिक कानून, औद्योगिक कानून इत्यादि। इन कानूनों को दीवानी कानून भी कहा जाता है। यद्यपि संहिता में 'सिविल' शब्द

को कहीं भी परिभाषित नहीं किया गया है, फिर भी मानक शब्दकोश के अनुसार, यह किसी नागरिक के निजी अधिकारों एवं उपचारों से संबंधित है जो कि राजनीतिक अपराधिक न हों। दूसरे शब्दों में, सिविल वाद/कानून से तात्पर्य उस वाद/कानेन से है जिसमें संपत्ति-सम्बन्धी या पद सम्बन्धी अधिकार प्रतिवादित है, इस बात के होते हुए भी कि ऐसा अधिकार धार्मिक कृत्यों अथवा कर्मों सम्बन्धी प्रश्नों के विनिश्चय या पूर्ण रूप से अवलंबित है।

इन मुकदमों पर निर्णय देते समय न्यायालयों द्वारा पालन की जाने वाली आवश्यक प्रक्रिया एवं मानकों को सिविल प्रक्रिया (Civil procedure) कहा जाता है जबकि आपराधिक मुकदमों में अन्य प्रक्रिया का पालन किया जाता है, जिसे दण्ड प्रक्रिया (criminal Procedure) कहते हैं।

दीवानी न्यायालय का अधिकार क्षेत्र

अदालत के अधिकार क्षेत्र (jurisdiction) से यह तात्पर्य है कि अदालत द्वारा, मामलों का विचारण करने औरसुनवाई करने एवं उचित निर्णय करने के लिए कानून द्वारा किस सीमा तक शक्तियाँ प्रदान की गयी है। उपयुक्त अधिकार-क्षेत्र की अनुपस्थिति में न्यायालय उचित तथा न्याय संगत कार्य करने में अअसमर्थ होगा। सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 (Civil Procedure Code) की धारा 9 भारत में सिविल न्यायालयों के क्षेत्राधिकारके पहलू से संबंधत है।

व्यक्तिगत अपकृत्य (Private Wrongs)— अपकृत्य (Tort) शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द टार्टम (Tortum) से हुई है जिसका अर्थ है तोड़ना या मरोड़ना। इसके अन्तर्गत ऐसे आचरण होते हैं जो सीधे सरल अथवा विधि पूर्ण न होकर तोड़े-मरोड़े गये अथवा विधि विरुद्ध होते हैं। 'टार्ट' शब्द अंग्रेजी भाषा के Wrong शब्द का पर्यायवाची है जिसका अर्थ है— दोष अथवा अपकार। इस प्रकार अपकृत्य (Tort) में विभिन्न दोषपूर्ण कार्य आते हैं जैसे— मानहानि, छल, हमला, उपेक्षा, संप्रहार आदि।

परिसीमा अधिनियम 1963 के अनुसार, ''अपकृत्य एक सिविल दोष है जो अनन्य रूप से संविदा का भंग यान्यास का उल्लंघन नहीं है।''

चूंकि अपकृत्य को एक निजी अपकार माना जाता है अत: क्षतिग्रस्त पक्षकार को स्वयं ही वादी के रूप में वाद लाना पड़ता है।

1.8. दंड प्रक्रिया संहिता (Criminal Procedure Code)

1. परिवाद (Complaint)—किसी व्यक्ति के विरुद्ध मुकदमा दो तरीके से लाया जा सकता है। एक पुलिस में F.I.R. के द्वारा तथा दूसरा न्यायिक दंडाधिकारी के समक्ष परिवाद (Complaint) के द्वारा। परिवाद के द्वारा मुकदमा मौखिक या लिखित रूप में लाया जा सकता है। उच्चतम न्यायालय ने **भीमपा बनाम लक्ष्मण (A.I.R. 1970 S.C. 1153)** के मामले में यह मत व्यक्त किया है कि परिवाद मौखिक (oral) अथवा लिखित (written) किसी भी रूप में हो सकता है।

इस प्रकार जब कोई मौखिक या लिखित बयान न्यायिक दंडाधिकारी के समक्ष इस उद्देश्य से किया जाए कि किसी व्यक्ति के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही की जाए, तो ऐसे ही मौखिक या लिखित बयान को परिवाद (complaint) कहा जाता है। **Ramchandra Singh V/s Mohit Choudhary (A.I.R. 1969 Cal.)** के वाद में यह मत प्रकट किया गया कि कोई भी दोषारोपण परिवाद है या नहीं इसका निर्धारण Cr. P.C. की धारा 2 (d) में दी गई परिभाषा के आधार पर करना चाहिए।

दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 2 (d) में 'परिवाद' की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—'परिवाद लिखित या मौखिक एक दोषारोपण है, जिसे मजिस्ट्रेट के समक्ष इस उद्देश्य से लाया जाता है कि इस संहिता के अधीन अपराध करने वाले ज्ञात या अज्ञात व्यक्ति के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही की जाए।'

इस प्रकार परिवाद ज्ञात या अज्ञात ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध जिसने अपराध किया है, मौखिक या लिखित एक दोषारोपण है, जिसे मजिस्ट्रेट के समक्ष इस उद्देश्य से लाया जाता है कि इस संहिता के अधीन उसके विरुद्ध कार्यवाही की जाए। इसके अतिरिक्त पुलिस द्वारा अनुसंधान के पश्चात् अपराध अगर असंज्ञेय (जहाँ पुलिस बिना वारंट के गिरफ्तार नहीं कर सकती है) प्रकट होता है तो वैसी अवस्था में पुलिस द्वारा दी गई रिपोर्ट को भी परिवाद (Complaint) माना जाता है। यदि किसी कानून को तोड़ा गया है तो कोई भी व्यक्ति परिवाद कर सकता है, चाहे वह पीड़ित हो या न हो। **सेबांटी लाल बनाम स्टेट ऑफ गुजरात** (A.I.R. 1969 Guj. 14) के मामले में यह मत व्यक्त किया गया है कि परिवाद में अपराध का उल्लेख होना आवश्यक नहीं है।

2. आरोप-पत्र (Charge-Sheet)—पुलिस किसी अपराध के अनुसंधान के पश्चात जब अपराधी के विरुद्ध मुकदमा चलाये जाने का संतोषप्रद सबूत या साक्ष्य पाती है तो वह न्यायालय में अपराधी के विरुद्ध मुकदमा चलाने के लिए एक रिपोर्ट भेजती है। पुलिस द्वारा भेजी गयी ऐसी ही रिपोर्ट को आरोप-पत्र (Charge-Sheet) कहते हैं।

पुलिस द्वारा भेजी गई वह रिपोर्ट राज्य सरकार द्वारा निर्धारित फार्म में दी जाती है जिसमें निम्नलिखित बातें रहती हैं—

1. पक्षकारों के नाम;

2. सूचना की प्रकृति जिसमें घटना का संक्षिप्त विवरण रहता है;

3. मामले की परिस्थिति से परिचित होने वाले गवाहों के नाम;

4. अपराधी का नाम;

5. क्या अपराधी गिरफ्तार किया गया है?

6. क्या गिरफ्तार किये जाने पर उसे बंध-पत्र पर छोड़ा गया है।

3. लोक अभियोजक (Public Prosecutor)—आपराधिक मुकदमें में दो पक्षकार होते हैं। एक जो केस लाता है तथा दूसरा जिस पर केस लाया जाता है। जो केस लाता है उसकी ओर से मुकदमा लड़ने के लिए सरकार वकील नियुक्त करती है। न्यायिक दंडाधिकारी के समक्ष सरकार द्वारा नियुक्त वकील को सहायक लोक अभियोजक, A.P.P. कहा जाता है। सेशन जज के न्यायालय में मुकदमे के संचालन के लिए जिस अधिवक्ता को सरकार नियुक्त करती है उसे लोक-अभियोजक कहा जाता है। इस प्रकार लोक अभियोजक वह अधिवक्ता है जो सरकार की ओर से किसी अभियोजन, अपील या किसी अन्य कार्यवाही के संचालन में सरकार का प्रतिनिधित्व करता है। इसकी नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती है। लोक अभियोजक के निर्देश पर काम करने वाला व्यक्ति भी लोक अभियोजक कहलाता है।

लोक अभियोजक की नियुक्ति दंड-प्रक्रिया संहिता की धारा (24) के प्रावधान के अधीन की जाती है। जिला दंडाधिकारी, सत्र न्यायाधीश के परामर्श पर वैसे अधिवक्ताओं की एक सूची तैयार कर सरकार को भेजता है जो कम-से-कम सात वर्ष से अधिवक्ता के रूप में काम कर रहा है। राज्य सरकार ऐसी ही सूची में से एक को लोक अभियोजक के रूप में नियुक्त करती है।

4. आरोप (Charge)—मुकदमे की कार्यवाही शुरू होने के पूर्व न्यायालय द्वारा अभियुक्त के विरुद्ध आरोप का गठन किया जाता है। आरोप अभियुक्त के विरुद्ध लगाये गये अभियोग की जानकारी का एक लिखित कथन है जिसमें अपराध का संक्षिप्त विवरण होता है तथा उस अपराध से संबंधित धारा के साथ-साथ अपराध से संबंधित स्थान, व्यक्ति एवं वस्तु का भी उल्लेख किया जाता है। इस प्रकार आरोप, अभियुक्त के विरुद्ध लगाये गए इल्जाम की एक सूचना है कि जिसका उद्देश्य है कि अभियुक्त आरोप का खंडन करने में समर्थ हो सके तथा उसके यह जानकारी हो जाय कि उसके ऊपर क्या अभियोग है। अगर

अभियुक्त को अपने विरुद्ध लगाए गए आरोप की जानकारी नहीं होगी तो वह अपनी ओर से सफाई पेश करने में समर्थ नहीं हो सकता। यही कारण है कि मुकदमे की कार्यवाही शुरू होने के पहले अभियुक्त को आरोप पढ़कर सुना दिया जाता है। सामान्यत: आरोप तभी लगाया जाता है जबकि मजिस्ट्रेट इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अभियुक्त के विरुद्ध प्रथम द्रष्ट्या मामला बनता है।

दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 211 से 244 तक में आरोप के संबंध में विभिन्न प्रावधान किये गये हैं। आरोप की परिभाषा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 2 (ख) के अधीन की गई है जिसमें मात्र इतना कहा गया है कि 'आरोप' के अंतर्गत जब आरोप में एक से अधिक शीर्ष हों, आरोप का कोई भी शीर्ष सम्मिलित है। इस प्रकार जब एक से अधिक आरोप का शीर्ष होता है तो प्रत्येक शीर्ष (Head) आरोप कहलाता है। आरोप की संरचना हेतु संहिता की द्वितीय अनुसूची में तीन प्रकार के प्रारूप दिये गये हैं—

(i) एक ही शीर्ष के आरोप

(ii) दो या अधिक शीर्ष के आरोप

(iii) पूर्व दोष सिद्धि के पश्चात चोरी का आरोप

आरोप की अंतर्वस्तु—दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 212 के अनुसार किसी आरोप में निम्नलिखित विवरण होने चाहिए—

(i) उस अपराध का उल्लेख जिसका कि अभियुक्त पर आरोप है।

(ii) अपराध का नाम यदि विधि के अंतर्गत उस अपराध का कोई नाम नहीं दिया गया है तो आरोप में उस अपराध की परिभाषा दी जानी आवश्यक है।

(iii) विधि एवं विधि की धारा का उल्लेख किया जाना चाहिए जिसके अंतर्गत कोई अपराध बनता है।

(iv) आरोप न्यायालय की भाषा में लिखा जाना चाहिए।

(v) यदि पश्चातवर्ती अपराध के लिए अभियुक्त की पूर्व दोष सिद्धि का सहारा लिया जाना हो तो आरोप में ऐसी दोष सिद्धि के तथ्य, तिथि और स्थान का उल्लेख किया जाना चाहिए। लेकिन यदि इस प्रकार का कथन किसी कारण आरोप में अंकित नहीं किया जा सकता है तो न्यायालय दंडादेश देने के पूर्व उसे कभी भी जोड़ सकता है। **(Anup Kumar V/s State of Gujart 1885 (i) G.R.R. 294)**

संहिता की धारा 212 के अनुसार, अपराध के समय और स्थान के वर्णन के साथ-साथ जिस व्यक्ति के विरुद्ध अथवा जिस वस्तु के विषय में वह अपराध किया गया उस व्यक्ति या वस्तु के बारे में विशिष्टयाँ आरोप में अंतर्विष्ट होगी।

संहिता की धारा 213 के अनुसार, जब मामला इस प्रकार का है कि धारा 211 एवं 212 में वर्णित विशिष्टियाँ अभियुक्त को उस बात की जिसका उस पर आरोप है, पर्याप्त सूचना नहीं देगी तब उस रीति की, जिसमें अभिकथित अपराध किया गया, ऐसी विशिष्टयाँ भी, जैसी उस प्रयोजन के लिए पर्याप्त हैं, आरोप में अंतर्विष्ट होंगी अर्थात् धारा 211 एवं 212 में वर्णित विशिष्टियाँ (particulars) अभियुक्त पर लगाये आरोप के बारे में समुचित जानकारी देने के लिए यदि अपर्याप्त हों तो मजिस्ट्रेट द्वारा आरोप यदि उस रीति का उल्लेख किया जाना चाहिए, जिसमें अभिकथित अपराध किया गया हो ताकि अभियुक्त को उसके विरुद्ध लगाये गये आरोप की स्पष्ट जानकारी हो जाए।

धारा 216 के अनुसार, कोई भी न्यायालय निर्णय सुनाये जाने के पूर्व किसी आरोप में परिवर्तन कर सकता है।

5. मुख्य न्यायिक दंडाधिकारी (Chief Judicial Magistrate)—दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 12 एवं 15 के अनुसार, उच्च न्यायालय, महानगर को छोड़ प्रत्येक जिले में एक मुख्य न्यायिक दंडाधिकारी की नियुक्ति करता है। जिले का प्रत्येक न्यायिक दंडाधिकारी मुख्य न्यायिक दंडाधिकारी के अधीन होता है। ये समय-समय पर संहिता के प्रावधान के अनुसार, कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए नियम बना सकते हैं, या कोई विशेष आदेश दे सकते हैं। मुख्य न्यायिक दंडाधिकारी सात वर्ष तक की सजा दे सकते हैं।

6. पूर्व अनुमति जमानत (Anticipatory Bail)—जब किसी व्यक्ति को यह विश्वास करने का उचित कारण है कि हो सकता है कि उसे किसी अजमानतीय अपराध के लिये जाने के अभियोग में गिरफ्तार कर लिया जाएगा तो ऐसा व्यक्ति दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 438 के अधीन उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय में जमानत के लिए आवेदन दे सकता है। ऐसे आवेदन पर जब सेशन जज या उच्च न्यायालय आवेदक को पुलिस द्वारा गिरफ्तार होने पर उसे पुन: जमानत पर छोड़ देने का आदेश देता है तो उसे पूर्व अनुमति जमानत कहा जाता है अर्थात् जब गिरफ्तारी के पूर्व ही किसी व्यक्ति को गिरफ्तार होने की स्थिति में उसे जमानत पर छोड़ देने का निर्देश दिया जाता है तो उसे पूर्व अनुमति जमानत कहा जाता है।

उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय जहाँ भी आवेदन दिया गया हो, निम्नलिखित शर्तों पर आवेदक के गिरफ्तार होने पर उसे छोड़ने का निर्देश दे सकता है—

(i) यह कि पुलिस द्वारा जाँच-पड़ताल के समय वह व्यक्ति पूछे जाने वाले प्रश्नों का उत्तर देने के लिए, जैसे और जब जरूरत होगी उपस्थित होगा।

(ii) यह कि वह व्यक्ति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मामले के तथ्यों से अवगत व्यक्ति (गवाहों) को न्यायालय या पुलिस के समक्ष मामले के तथ्यों को प्रकट करने के लिए कोई धमकी या उत्प्रेरणा नहीं देगा;

(iii) यह कि वह व्यक्ति न्यायालय की पूर्व अनुमति के बिना भारत नहीं छोड़ेगा;

(iv) यह कि वह व्यक्ति बंध-पत्र की शर्तों के अनुसार हाजिर होगा;

(v) यह कि वह व्यक्ति उस अपराध जैसा जिसे करने का उस पर अभियोग या संदेह है, कोई अपराध नहीं करेगा।

गुरुबख्श सिंह एवं अन्य बनाम पंजाब राज्य (A.I.R. 1980 S.C. 1632) के मामले में यह मत व्यक्त किया गया है कि पूर्व अनुमति जमानत का आदेश पारित करने के पूर्व न्यायालय को यह भली-भाँति देख लेना चाहिए कि गिरफ्तारी के विश्वास का कोई युक्तियुक्त कारण विद्यमान है या नहीं। मात्र गिरफ्तारी का भय इसके लिए पर्याप्त नहीं है।

7. पुलिस रिपोर्ट (Police Report)—पुलिस में मुकदमा दर्ज होने पर पुलिस अधिकारी मामले का अनुसंधान जल्द-से-जल्द पूरा करेगा तथा अनुसंधान पूरा होने के पश्चात वह अनुसंधान के दौरान किये गये कार्यों की एक रिपोर्ट अपने क्षेत्राधिकार के सशक्त न्यायिक मजिस्ट्रेट को रिपोर्ट भेजेगा। इसी रिपोर्ट को पुलिस रिपोर्ट कहा जाता है। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 2 (1) के अनुसार, पुलिस रिपोर्ट का अर्थ है पुलिस अधिकारी द्वारा 173 की उपधारा (2) के अधीन मजिस्ट्रेट को भेजी गई रिपोर्ट।

धारा 173 (2) के अनुसार, अनुसंधान के पश्चात अपराध पर संज्ञान (cognizance) लेने के लिए थाना प्रभारी सशक्त मजिस्ट्रेट को एक रिपोर्ट भेजेगा जो राज्य सरकार द्वारा निर्धारित फार्म में होगा जिसमें निम्नलिखित बातें उल्लिखित होगी—

(a) मुकदमे से संबंधित पक्षों का नाम;

(b) इत्तिला का स्वरूप;

(c) मामले की परिस्थिति से परिचित प्रतीत होने वाले व्यक्ति के नाम (गवाहों का नाम);

(d) क्या कोई अपराध किया गया प्रतीत होता है? यदि हाँ तो किसके द्वारा (अभियुक्तों का नाम)

(e) क्या अभियुक्तों को गिरफ्तार किया गया है

(f) क्या उसे बंध-पत्र पर छोड़ा गया है? यदि हाँ तो प्रतिभूति सहित या प्रतिभूति रहित

(g) क्या वह धारा 170 के अधीन अभिरक्षा में भेजा गया?

8. इकबाली गवाह (Approver)—किसी अपराध में अपराधियों का साथ देने वाला व्यक्ति जब सरकार की ओर से अपराधी के विरुद्ध गवाही देने के लिए तैयार हो जाता है तो उसे मुखबिर या इकबाली गवाह कहते हैं। धारा 306 के अनुसार, मुख्य न्यायिक दंडाधिकारी किसी अपराध में साथ देने वाले व्यक्ति को साक्ष्य अभिप्राप्त करने की दृष्टि से अपराध के अनुसंधान या गवाही के समय उसके द्वारा अपराध के संबंध में पूर्ण एवं सत्य बात जो उसकी जानकारी में है, प्रकट करने पर क्षमा प्रदान कर सकता है। इस प्रकार का गवाह सामान्य गवाहों की श्रेणी में आ जाता है। परंतु इनके क्षमा को किसी भी समय खत्म भी किया जा सकता है। इस प्रकार के गवाह के गवाही की कीमत अन्य गवाहों के ही सामान होती है।

धारा 306 की उपधारा 2 के अनुसार, इकबाली गवाहों से संबंधित धारा 306 के प्रावधान निम्नलिखित में लागू होंगे—

(a) वैसा अपराध जो केवल सेशन न्यायालय द्वारा या दंड विधि संशोधन अधिनियम 1952 के अधीन नियुक्त विशेष न्यायाधीश के न्यायालय द्वारा विचारणीय हो।

(b) ऐसे कारावास से, जिसकी अवधि सात वर्ष तक की हो या अधिक कठोर दंड से दंडनीय कोई अपराध।

9. प्रथम अपराधी (First Offender)—प्रथम अपराधी उस व्यक्ति को कहा जाता है जिसके विरुद्ध लगाया गया आरोप पहली बार साबित होता है तथा उसके आधार पर उसे सजा दी जाती है। ऐसे सजावार व्यक्ति के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 360 के अंतर्गत निम्न प्रकार की व्यवस्था की गई है—

1. जब किसी व्यक्ति को, जो 21 वर्ष से कम आयु का नहीं है, केवल जुर्माना से या सात वर्ष या उससे कम अवधि के कारावास से दंडनीय अपराध के लिए सजा दी जाती है अथवा जब किसी व्यक्ति को जो २१ वर्ष से कम आयु का है या किसी स्त्री को ऐसे अपराध के लिए जो मृत्यु या आजीवन कारावास से दंडनीय नहीं है, सजा दी जाती है और यदि ऐसे व्यक्ति को पहले कभी सजा नहीं हुई है तो सजा देने वाला न्यायालय अपराधी की आयु, चरित्र या उसकी पूर्व की गतिविधि को और जिन परिस्थितियों में अपराध किया जाता है, उसे देखते हुए न्यायालय उसे कोई सजा देने के बदले सदाचार की परिवीक्षा (On Probation of good conduct) पर बंध-पत्र लेकर छोड़ देने का आदेश दे सकता है।

10. प्रथम सूचना रिपोर्ट (F.I.R.)—जब पुलिस को किसी ऐसे अपराध की सूचना जिसके आधार पर पुलिस अपराधी को बिना वारंट के भी गिरफ्तार कर सकती है तो वैसी प्रत्येक सूचना को प्रथम सूचना कहा जाता है। प्रथम सूचना के आधार पर राज्य सरकार द्वारा निर्धारित एक फार्म पर जब इसे प्रविष्ट (entry) किया जाता है तो वह F.I.R. कहलाता है।

R.P. Kapur V/s Sarder Pratap Singh (A.I.R. 1961 S.C. 1117) के वाद में उच्चतम नयायालय ने प्रथम सूचना की परिभाषा इस प्रकार से की है—''प्रथम सूचना रिपोर्ट का तात्पर्य ऐसी सूचना से है जो किसी व्यक्ति द्वारा किसी पुलिस अधिकारी को दी जाती है तथा जो किसी अपराध के किये जाने से संबंधित होती है।''

दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 154 (1) के अनुसार, प्रत्येक ऐसी सूचना जो किसी संज्ञेय अपराध (congnizable offence) के संबंध में लिखित या मौखिक है, थाना प्रभारी को दिए जाने पर उसके द्वारा

या उसके निर्देश पर लेखबद्ध किया जाएगा तथा सूचना देने वाले को पढ़कर सुनाया जाएगा और उस पर सूचना देने वाले का हस्ताक्षर या अँगूठे का निशान लिया जायेगा तथा ऐसी प्रत्येक सूचना का सार राज्य सरकार द्वारा निर्धारित ऐसी पुस्तक में जिसे उस अधिकारी द्वारा ऐसे रूप में रखा जाता है, प्रविष्ट किया जाएगा।

धारा 154 (2) के अनुसार; ऐसी सूचना की एक प्रतिलिपि सूचना देने वाले को नि:शुल्क दी जाएगी।

धारा 154 (3) के अनुसार; यदि पुलिस थाने का अधिकारी ऐसी सूचना को लेने से इंकार करता है तो वह व्यक्ति उसे डाक द्वारा पुलिस अधीक्षक को भेज सकता है और संज्ञेय अपराध के प्रकट होने पर पुलिस अधीक्षक (Investigate) (अनुसंधान) करने की कार्यवाही करेगा।

इस प्रकार प्रथम सूचना किसी अपराध के संबंध में एक ऐसी सूचना है जो पुलिस को इसलिए दी जाती है कि पुलिस अपराध का अनुसंधान करे तथा सत्यता की खोज कर अपराधी को दंडित किया जा सके। इस प्रकार की सूचना क्षतिग्रस्त व्यक्ति द्वारा या किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा भी दी जा सकती है, जिसे इसकी जानकारी है। परंतु यह आवश्यक नहीं है कि सूचनादाता उन सभी तथ्यों को बताये जो वह जानता हो। प्रथम सूचना एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है जिसके माध्यम से मुकदमे की प्रथम दृष्टि का पता चलता है। प्रथम सूचना ही किसी विचारण (Trial) का आधार होती है। इसलिए भी इसका काफी महत्व है।

प्रथम सूचना रिपोर्ट के साक्ष्यिक मूल्य के संबंध में श्रीमती प्रभावती एवं अन्य **(A.I.R. 1980 Delhi 94)** के मामले में यह मत व्यक्त किया गया है कि प्रथम सूचना रिपोर्ट मुख्य साक्ष्य (Substantive evidence) नहीं है। **अरविन्द कुमार बनाम बिहार राज्य** (B.L.J. 1990 (1) 393) के मामले में न्यायालय ने प्रथम सूचना रिपोर्ट के साक्ष्यिक मूल्य पर अपना प्रकाश डालते हुए यह मत प्रकट किया कि यह स्वयं मौलिक साक्ष्य के रूप में ग्राह्य नहीं होती। इसका प्रयोग सूचना देने वाले के कथन के खंडन या अनुसमर्थन हेतु किया जा सकता है। प्रथम सूचना रिपोर्ट का मुख्य उद्देश्य, पुलिस को अपराध के घटित होने की जानकारी देना है ताकि पुलिस अनुसंधान कर अपराधी को पकड़ सके तथा उसे विचारण हेतु कोर्ट में पेश कर सके।

11. अनुसंधान (Investigation)—अपराधी के विरुद्ध साक्ष्य इकटठा करने की कार्यवाही को अनुसंधान कहा जाता है। साधारणतया अपराध के मामले में यह कार्यवाही पुलिस द्वारा की जाती है। इस प्रकार की कार्यवाही पुलिस के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति द्वारा (मजिस्ट्रेट को छोड़कर) भी हो सकती है अगर उसे इसके लिए प्राधिकृत किया जाए।

दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 2 (h) के अनुसार, अनुसंधान के अंतर्गत वे सभी कार्यवाहियाँ आती हैं जो इस संहिता के अधीन पुलिस अधिकारी द्वारा या (मजिस्ट्रेट से भिन्न) किसी भी ऐसे व्यक्ति द्वारा इस निमित्त साक्ष्य एकत्र करने के लिए किया जाता है।

उपर्युक्त परिभाषा से यह स्पष्ट है कि 'अनुसंधान' या तो पुलिस अधिकारी द्वारा होगा या न्यायिक मजिस्ट्रेट को छोड़ किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा जिसे इसके लिए न्यायिक मजिस्ट्रेट ने प्राधिकृत किया है। इस संहिता की धारा 3 के अधीन मजिस्ट्रेट शब्द का अर्थ न्यायिक मजिस्ट्रेट (Judicial Magistrate) या महानगर मजिस्ट्रेट (Metro-politan Magistrate) से होता है। अत: इस धारा में प्रयुक्त शब्द 'मजिस्ट्रेट को छोड़कर' का तात्पर्य न्यायिक मजिस्ट्रेट को छोड़कर से है। अत: अनुसंधान, या तो पुलिस अधिकारी द्वारा होगा या किसी ऐसे अन्य व्यक्ति द्वारा जिसे मजिस्ट्रेट ने इस काम के लिए अधिकार दिया है। इस प्रकार कार्यपालक मजिस्ट्रेट (Executive Magistrate) भी अनुसंधान कर सकता है।

यू० पी० राज्य बनाम भागवत किशोर (1953 all L.J. 682 S.C.) के मामले में यह मत व्यक्त किया गया है कि अनुसंधान (Investigation) की कार्यवाही F.I.R. के बाद प्रारंभ होती है, परंतु पुलिस अधिकारी अपराध के किसी मामले को दर्ज करने के पूर्व अनुसंधान की कार्यवाही कर सकता है।

उन्मोचन अभियुक्त को निर्दोष घोषित नहीं करता है बल्कि इसका अर्थ होता है कि उसके विरुद्ध कोई प्रथम दृष्ट्या ऐसा साक्ष्य प्रमाणित नहीं हुआ है जोकि आरोप के संबंध में उसके विरुद्ध आगे विचारण को न्यायोचित कर सके। उन्मोचन का आदेश निर्णय नहीं कहलाता है तथा यह आरोप गठित होने के पहले ही किया जाता है।

वारंट मामले के विचार में Cr. P.C. की धारा 239 तथा सेशन केस विचार में धारा 227 के अंतर्गत अभियुक्त के उन्मोचन के प्रावधान का उल्लेख किया गया है। इन धाराओं के अनुसार, धारा १७३ के तहत भेजी गई पुलिस रिपोर्ट तथा दस्तावेजों के निरीक्षण कर लेने पर तथा इस निमित्त अभियोजन एवं अभियुक्त की सुनवाई के पश्चात मजिस्ट्रेट या न्यायालय यदि यह समझता है कि अभियुक्त के विरुद्ध लगाये गये आरोप निराधार हैं या कार्यवाही करने के लिये पर्याप्त आधार नहीं है तो वह अभियुक्त को उन्मोचित कर देगा तथा ऐसा करने के कारणों को लिखेगा।

15. सहायक लोक अभियोजक (Assistant Public Prosecutor)—प्रत्येक अपराधिक मामले में अभियोजन पक्ष सरकार होती है, क्योंकि अपराधी को सजा दिलाना सरकार का काम है। न्यायिक दंडाधिकारी की अदालत में सरकार की ओर से जो व्यक्ति अभियोजन का काम करता है उसे ही सहायक लोक अभियोजक (A.P.P.) कहा जाता है।

सहायक लोक अभियोजक की नियुक्ति दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 25 के अंतर्गत की जाती है। इस धारा के अनुसार, (1) राज्य सरकार प्रत्येक जिले में मजिस्ट्रेट के न्यायालयों में अभियोजनों को संचालन करने के लिए एक या अधिक सहायक लोक अभियोजक की नियुक्ति करेगा। धारा 25 (2) के अनुसार, कोई पुलिस अधिकारी सहायक लोक अभियोजक के पद पर नियुक्त नहीं हो सकता है। धारा 25 (3) के अनुसार, जहाँ कोई सहायक लोक अभियोजक किसी विशिष्ट मामले के प्रयोजनों के लिए उपलब्ध नहीं है, वहाँ जिला मजिस्ट्रेट किसी अन्य व्यक्ति को उस मामले का भारसाधक सहायक लोक अभियोजक नियुक्त कर सकता है।

परंतु कोई भी ऐसा पुलिस अधिकारी इस पद पर नियुक्त नहीं किया जाएगा।

(क) यदि उसने उस अपराध के अन्वेषण में कोई भाग लिया है,

(ख) यदि वह निरीक्षक की पंक्ति से नीचे का है।

सहायक लोक अभियोजक न्यायिक दंडाधिकारी (Judicial Magistrate) के न्यायालय में सरकार की ओर से मुदकमे का संचालन करता है। ऐसे संचालन में वह अभियुक्तों को दोष सिद्ध करने के लिए वैसे गवाह को न्यायालय में साक्ष्य दिलाता है जिससे कि उसका केस सिद्ध होता है। वह अभियोजन की ओर से वैसी सभी पैरवी करता है जिसे वह उचित समझता है। इस प्रकार सहायक अभियोजक का कार्य अभियोजन पक्ष के लिए काफी महत्वपूर्ण होता है।

16. वारंट मामला (Warrant Case)—दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 2 (X) के अंतर्गत वारंट केस की परिभाषा इस प्रकार की गई है—''वारंट केस एक ऐसे अपराध का मामला है जो आजीवन कारावास, मृत्यु या दो वर्ष से अधिक की अवधि के कारावास से दंडनीय किसी अपराध से संबंधित है।'' इस प्रकार दो वर्ष से अधिक कारावास से दंडनीय सभी अपराध को वारंट केस कहा जाएगा।

न्यायिक दंडाधिकारी द्वारा वारंट केस का विचारण (Trial) दो प्रकार से होता है। मुकदमा अगर परिवाद (Complaint) के आधार पर शुरू हुआ है तो पहले सभी गवाहों का बयान लिया जाता है। तत्पश्चात आरोप का गठन होता है। (धारा 244 से 250)। यदि मुकदमा F.I.R. के द्वारा शुरू हुआ है तो मुकदमे का विचारण शुरू होने के पहले ही आरोप का गठन किया जाता है। (धारा 233 से 243)

17. न्यायिक कार्यवाही (Judicial Proceeding)—दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 2 (i) के अंतर्गत न्यायिक कार्यवाही को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—''न्यायिक कार्यवाही के अंतर्गत ऐसी कार्यवाही आती हैं जिसके अनुक्रम में साक्ष्य वैध रूप से शपथ पर लिया जाता है या लिया जा सकता है। इस प्रकार न्यायिक कार्यवाही के अंतर्गत परिवाद प्रस्तुत करने से लेकर उस समय तक की संपूर्ण कार्यवाही सम्मिलित है जब तक कि निर्णय न दे दिया जाए।''

न्यायिक कार्यवाही के अंतर्गत यह आवश्यक नहीं है कि शपथ ले ली गई हो। यदि किसी कार्यवाही में साक्ष्य हेतु शपथ दिलायी जा सकती है तो वह भी न्यायिक कार्यवाही मानी जाएगी। न्यायिक कार्यवाही के अंतर्गत जाँच और परीक्षण भी सम्मिलित है, किंतु अन्वेषण सम्मिलित नहीं है। न्यायमूर्ति स्कॉटलैंड के अनुसार—''न्यायिक कार्यवाही न्यायालय में लंबित मुकदमे में न्याय प्रशासन के अनुक्रम में न्यायालय द्वारा उठाया जाने वाला कदम है।''

18. सेशन न्यायालय (Sessions Court)—Cr. P.C. की धारा 9 में सेशन न्यायालय के संबंध में आवश्यक उपलब्ध किए गए हैं। इस धारा के उपबंधों के अनुसार प्रत्येक सेशन खंड के लिए राज्य द्वारा एक सेशन न्यायालय स्थापित करने की व्यवस्था की गई है, जिसके पीठासन न्यायाधीश की नियुक्ति उच्च न्यायालय द्वारा की जाएगी।

सेशन न्यायालय की अधिकारिता का प्रयोग करने के लिए उच्च न्यायालय द्वारा अपर सेशन न्यायाधीशों (Additional session judges) तथा सहायक सेशन न्यायाधीशों (Assistant session judges) की नियुक्ति भी की जा सकती है।

सेशन न्यायालय सामान्यत: अपनी बैठक ऐसे स्थान पर करेगा, जो उच्च न्यायालय अधिसूचना द्वारा निर्देशित करे, परंतु विशेष मामले में यदि सेशन न्यायालय उचित समझे तो मामले के पक्षकारों तथा साक्षियों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए सेशन खंड के अन्य किसी स्थान पर अपनी बैठक कर सकता है।

19. अपराध (Offence)—Cr.P.C. की धारा 2 के अनुसार अपराध से तात्पर्य किसी ऐसे कार्य (Act) या कार्यलोप (omission) से है जिसे तत्समय लागू किसी कानून के अधीन दंडनीय बनाया गया है। इसके तहत ऐसे कार्य भी सम्मिलित हें जिसके विरुद्ध पशु अतिचार अधिनियम के धारा २० के तहत परिवाद दायर किया जा सकता है।

दूसरे शब्दों में, हम यों कह सकते हैं कि वह कार्य अपराध की श्रेणी में आएगा जो किसी कानून द्वारा गैरकानूनी घोषित किया गया हो।

अमेरिकी उपनिवेशों ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा के समय यह कहा था—''**सभी मनुष्य समान उत्पन्न हुए हैं तथा परमात्मा ने उन्हें कुछ ऐसे अधिकार प्रदान किए हैं जो किसी भी अवस्था में उनसे छीने नहीं जा सकते।**'' संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान नागरिकों को कई तरह के अधिकार प्रदान करता है। 1789 में फ्रांस की राष्ट्रीय सभा ने भी मानव अधिकारों की घोषणा की थी। उसके पश्चात यूरोप के कई अन्य देशों ने अपने-अपने संविधानों में मूल अधिकारों को शामिल करने की नीति अपनाई।

भारतीय नेताओं ने लंबे काल तक अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष किया था। गुलामी और निरंकुश शासन का उन्हें अनुभव था। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि लोकतंत्र और नागरिक अधिकारों की ओर उनका झुकाव हो। जवाहरलाल नेहरू ने अपने सुप्रसिद्ध **'उद्देश्य प्रस्ताव'** (Objectives Resolution) में जिसे 13 दिसंबर, 1946 के दिन संविधान सभा में रखा गया था, यह कहा कि संविधान का लक्ष्य देश में गणतंत्र की स्थापना करना है जिससे सब लोगों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय मिल सके। संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 10 दिसंबर, 1948 को मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा की। सदस्य-राष्ट्रों ने यह प्रतिज्ञा की है कि वे मानव अधिकारों (Human Rights) के प्रति सम्मान

जगायेंगे और उनका पालन करेंगे। भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों का बड़ा विस्तृत वर्णन मिलता है। संविधान द्वारा स्वीकृत अधिकार इस प्रकार हैं—(1) समता का अधिकार; (2) स्वतंत्रता का अधिकार; (3) शोषण के विरुद्ध अधिकार; (4) धार्मिक स्वतंत्रता; (5) संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार; तथा (6) संवैधानिक उपचारों का अधिकार। 44वें संशोधन (1978) के लागू होने से पहले संपत्ति का अधिकार भी नागरिकों का एक मौलिक अधिकार था, लेकिन अब वह मूल अधिकारों की सूची में निकाल दिया गया है।

1.9. मौलिक अधिकारों की परिभाषा, महत्व अथवा उद्देश्य

(Definition, Importance or Purpose of the Fundamental Rights)

'मूल अधिकार' में मूल (Fundamental) के दो निहितार्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि ये अधिकार भारतीयों के 'प्राकृतिक' (natural) यानी जन्मसिद्ध अधिकार हैं और इसलिए अपरिवर्तनशील हैं। दूसरा भ्रम यह हो सकता है कि मौलिक अधिकार 'पूर्ण' अथवा 'असीम' (absolute) हैं, इन पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता। परन्तु इन अधिकारों को यदि असीम मान लिया जाए तो शीघ्र ही अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। 1967 में गोलकनाथ केस में उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया था कि **''हमारे संविधान में दिए गये मूल अधिकार संविधान या संविधान सभा की देन ही नहीं हैं, बल्कि वे प्रकृति या 'नेचर' के द्वारा दिए गए अधिकार हैं; संविधान तो केवल उनके अस्तित्व को स्वीकार कर सकता है।''** इससे निष्कर्ष यह निकाला गया था कि **''जब ये अधिकार संविधान द्वारा दिए नहीं गये तो इन्हें संविधान के संशोधन के द्वारा छीना भी नहीं जा सकता है।''** इस तर्क का अब कोई मूल्य नहीं रह गया है, चूँकि गोलकनाथ के निर्णय को तो केसवानंद भारती के मामले (1973) में स्वयं उच्चतम न्यायालय ने ही उलट दिया है। वास्तव में, मौलिक अधिकारों को 'प्राकृतिक अधिकारों' की श्रेणी में रखने की आवश्यकता नहीं है। 'प्रकृति' या 'प्राकृतिक' ऐसे शब्द हैं जिनका कोई स्पष्ट अर्थ नहीं है। इसके अतिरिक्त अधिकारों का सृजन राज्य के कानून करते हैं, प्रकृति नहीं।

मौलिक अधिकारों की परिभाषा (Definition of Fundamental Rights)

मौलिक अधिकारों से तात्पर्य उन अधिकारों से है जो व्यक्ति और समाज के सर्वांगीण विकास के लिए अनिवार्य हैं और जिनका आश्वासन ''देश की मौलिक विधि'' देती है। ''देश की मौलिक विधि'' (fundamental law of the land) का अर्थ है—संविधान। चूँकि ये अधिकार संविधान द्वारा प्रदत्त हैं, इसलिए राज्य का कोई भी अंग–विधानमंडल या कार्यपालिका—इन अधिकारों का हनन नहीं कर सकता और यदि वह ऐसा करेगा तो उच्चतम या उच्च न्यायालय द्वारा उसका यह कृत्य अवैध माना जायेगा।

मौलिक अधिकारों का महत्व अथवा उद्देश्य
(Importance or Purpose of the Fundamental Rights)

मौलिक अधिकारों को महत्व अथवा उद्देश्य निम्नवत् हैं—

1. अधिकारों के बिना व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास नहीं हो सकता (Without rights no man can seek to be himself at his best)—**लॉस्की** के शब्दों में, **''अधिकार सामाजिक जीवन की वे दशाएँ हैं जिनके बिना कोई व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास नहीं कर सकता।''** प्रत्येक व्यक्ति में कुछ गुण या शक्तियाँ होती हैं जिनका विकास किए बिना वह आगे नहीं बढ़ सकता। जीवन की रक्षा, आर्थिक सुरक्षा, धार्मिक स्वतंत्रता तथा विचारों को प्रकट करने की स्वतंत्रता, ये सब ऐसे अधिकार हैं जो हर व्यक्ति के लिए उपयोगी हैं, किसी एक व्यक्ति के लिए नहीं। इसलिए उन्हें मूल अधिकारों की श्रेणी में रखा जाना स्वाभाविक ही था।

2. नागरिक स्वतंत्रताओं के बिना लोकतंत्रीय सरकार का अस्तित्व नहीं हो सकता (Democracy implies Civil Liberties)—लोकतंत्र में 'जनमत' का बहुत महत्व है। अभिव्यक्ति की

स्वतंत्रता लोकतंत्र के प्राण है, चूँकि लोकतंत्र इस विश्वास पर आधारित है कि जनता बहुत से विचारों में से जिन्हें स्वीकार करें, वे विचार ही ठीक हैं। जब तक नागरिकों को विचार, भाषण, सभा-सम्मेलन आदि की स्वतंत्रताएँ प्राप्त न हों तब तक लोकमत का निर्माण असंभव है। इसके अतिरिक्त यह भी जरूरी है कि नागरिकों को कानून की उचित प्रक्रिया के बिना जीवन और स्वतंत्रता से वंचित न किया जाए। भारतीय संविधान में इस स्वतंत्रता का विस्तार से वर्णन मिलता है।

3. विधानमंडल और कार्यपालिका अधिकारों का उल्लंघन नहीं कर सकते (No invasion of these rights by Executive or Legislature)—इन अधिकारों को 'मौलिक अधिकार' इसलिए भी कहा गया है कि उन्हें 'देश की मौलिक विधि' (Fundamental Law of the Land) यानी संविधान में शामिल किया गया है। संविधान में संशोधन किए बिना उन्हें घटाया या बढ़ाया जा सकता। दूसरे शब्दों में, विधानमंडल और कार्यपालिका मनमाने ढंग से मूल अधिकारों का हनन नहीं कर सकते। अधिकारों को कम करने या घटाने के लिए संविधान में संशोधन करना पड़ेगा।

4. अधिकारों को लागू करने की व्यवस्था की गई है (Rights are enforceable by the Courts)—संविधान ने नागरिकों को जो अधिकार प्रदान किए हैं, उनके लागू किए जाने की व्यवस्था की गई है। अधिकारों को लागू करने के लिए नागरिक न्यायालयों की शरण ले सकते हैं। मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायालय बंदी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus), अधिकार पृच्छा (Quo Warranto) तथा प्रतिषेध (Prohibition) आदि लेख जारी कर सकते हैं। संविधान ने उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों को यह भी शक्ति दी है कि वे मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए संसद या किसी भी राज्य के विधानमंडल के द्वारा बनाये गये कानून को अवैध या शून्य घोषित कर सकते हैं।

5. मौलिक अधिकार देश की आधारभूत एकता को प्रकट करते हैं (Fundamental rights reveal the Fundamental Unity of India)—मौलिक अधिकारों का महत्व इसलिए भी है कि वे देश की मौलिक एकता को प्रकट करते हैं। भारत एक विशाल देश है, जिसमें अनेक मजहबों, जातियों और संप्रदायों के लोग रहते हैं। मौलिक अधिकार सभी देशवासियों को समान रूप से उपलब्ध हैं। संविधान का 15वाँ अनुच्छेद घोषणा करता है कि, **''राज्य केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान या इनमें से किसी एक आधार पर नागरिकों से भेदभाव नहीं करेगा।''**

1.10. मौलिक अधिकारों की प्रकृति अथवा विशेषताएँ
(Nature and Features of the Fundamental Rights)

अधिकारों की कई श्रेणियाँ हैं जैसे समता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार तथा शोषण के विरुद्ध अधिकार। मूल अधिकारों की प्रकृति या उनकी विशेषताओं का इस प्रकार वर्णन किया जाता है—

1. कुछ अधिकार सभी व्यक्तियों को प्राप्त हैं और कुछ केवल नागरिकों को ही (Some Rights are available to all Persons, others apply to Citizens only)—भारत में जो लोग निवास करते हैं उन सभी को, चाहे वे भारत के नागरिक हैं अथवा नहीं, निम्नलिखित अधिकार उपलब्ध हैं—जीवन व माल-असबाब की सुरक्षा, धार्मिक स्वतंत्रता तथा शोषण के विरुद्ध अधिकार। परंतु निम्नलिखित अधिकार केवल भारतीय नागरिकों को ही दिए गए हैं—सरकारी पदों पर नियुक्ति के लिए अवसरों की समानता, भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, सभा-सम्मेलन और समुदायों के निर्माण की स्वतंत्रता, देश के एक भाग से दूसरे भाग में आने-जाने की स्वतंत्रता तथा देश के किसी भी भाग में बस जाने की स्वतंत्रता। वास्तव में, ये स्वतंत्रताएँ नागरिकों को देश के सामाजिक-राजनीतिक जीवन में खुलकर भाग लेने का अवसर प्रदान करती हैं। इसलिए विदेशियों को इस तरह की स्वतंत्रताएँ नहीं दी जा सकतीं।

2. राज्य कोई ऐसा कानून नहीं बनाएगा जिससे मौलिक अधिकारों का उल्लंघन होता हो (State shall not make any Law which abridges the Rights)—संविधान यह घोषणा

करता है कि **''राज्य कोई ऐसा कानून नहीं बनाएगा जिससे मूल अधिकार सीमित होते हों।''** 'राज्य' शब्द का यहाँ बहुत व्यापक अर्थों में प्रयोग किया गया है। उसके अंतर्गत 'विधानमंडल' और 'कार्यपालिका' दोनों आ जाते हैं। इतना ही नहीं, नगर निगम, नगरपालिका, जिला बोर्ड और पंचायतें भी 'राज्य' की ही सत्ता का बोध कराती हैं। उच्चतम न्यायालय ने अपने एक फैसले में यह कहा कि 'राज्य' के अंतर्गत वे निकाय भी आ जाते हैं जिन्हें किसी अधिनियम द्वारा स्थापित किया गया हो और जो सरकार या सरकार के समान कृत्य करते हों, जैसे कि राजस्थान राज्य विद्युत बोर्ड अथवा स्टेट बैंक ऑफ इंडिया आदि। इस प्रकार विधानमंडल, कार्यपालिका, स्थानीय सरकारें तथा अन्य बहुत से निकाय ऐसी कोई विधि या नियम नहीं बनायेंगे जिससे मौलिक अधिकारों का उल्लंघन होता हो।

3. वे उपबंध जिनका उल्लंघन करना अपराध है (Provisions whose contravention shall be an Offence)—कुछ अधिकार ऐसे हैं जो व्यक्तियों और निजी संस्थाओं के कार्यों पर भी प्रतिबंध लगाते हैं। उदाहरण के लिए, मानव-व्यापार, बेगार और जबरन मजदूरी की मनाही की गई है। इसी प्रकार चौदह वर्ष से कम आयु के किसी बालक को फैक्टरी, खान या जोखिम के काम पर लगाने की मनाही है। संविधान द्वारा छुआछूत बरतने की मनाही की गई है। इन उपबंधों को तोड़ना अपराध है जिसकी सजा कानून के अनुसार दी जा सकेगी।

4. अधिकार 'कानून' हैं जिन्हें अदालतों द्वारा लागू किया जा सकता है (Rights are laws enforceable by the Courts)—संविधान हमें यह अधिकार देता है कि हम मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए उच्चतम न्यायालय अथवा उच्च न्यायालयों की शरण ले सकें। इसके लिए इन न्यायालयों को कई प्रकार के आदेश व लेख जारी करने की शक्ति प्रदान की गई है। इनमें बंदी प्रत्यक्षीकरण के लेख (Write to Habeas Corpus) का विशेष महत्व है। इस लेख के माध्यम से 'न्यायालय' कार्यपालिका को यह आदेश देता है कि नजरबंद किए गए व्यक्ति को उसके सामने पेश किया जाए। यदि न्यायालय यह समझे कि किसी व्यक्ति को मनमाने ढंग से गिरफ्तार किया गया है तो वह उसकी रिहाई का आदेश देता है।

5. अधिकार असीम नहीं हैं (Rights are not Absolute)—किसी भी व्यक्ति को मनमाने ढंग से काम करने की स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती है। हम क्योंकि समाज के सदस्य हैं, इसलिए हमारे अधिकार असीम नहीं हैं। उदाहरण के लिए, संविधान हमें सभा-सम्मेलन की स्वतंत्रता प्रदान करता है। परंतु सार्वजनिक शांति, नैतिकता तथा राज्य की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए सरकार इन अधिकारों पर उचित प्रतिबंध लगा सकती है। ऐसे भाषणों या सभा-सम्मेलनों को गैरकानूनी समझा जाएगा जो लोगों को अपराध की ओर प्रेरित करें। सांप्रदायिक सद्भाव या सार्वजनिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए किसी भी समाचार पत्र या पत्रिका आदि का किसी राज्य या प्रदेश में लाया जाना निषिद्ध घोषित किया जा सकता है। इसी प्रकार धार्मिक स्वतंत्रता की आड़ में किसी को यह अधिकार नहीं दिया जा सकता कि वह सती-प्रथा अथवा नर-बलि (human sacrifice) जैसी समाज विरोधी प्रथाओं को बढ़ावा दे। अश्लील साहित्य के प्रकाशन की स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती है।

6. आपातकालीन घोषणा का मौलिक अधिकारों पर प्रभाव (Effect of Proclamation of Emergency on the Fundamental Rights)— आपात् स्थिति के दौरान राष्ट्रपति मौलिक अधिकारों को लागू किए जाने पर रोक लगा सकते हैं। उदाहरण के लिए, 26 जून, 1975 को राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 14, 21 व 22 में दिए गए अधिकारों को लागू किया जाना रोक दिया था। दूसरे शब्दों में, उपरोक्त अधिकारों पर अमल कराने के लिए नागरिक न्यायालय की शरण नहीं ले सकते थे। परंतु 44वें संशोधन ने यह व्यवस्था की है कि अनुच्छेद 20 व 21 में दिए गए अधिकार आपात् स्थिति में भी स्थगित नहीं किए जा सकते। अनुच्छेद 20 यह घोषणा करता है कि किसी मौजूदा कानून को भंग करने के अपराध में ही कोई व्यक्ति दंडित किया जा सकता है तथा किसी भी व्यक्ति को एक अपराध के लिए एक बार से अधिक सजा

नहीं दी जा सकेगी। इसके अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति स्वयं अपने विरुद्ध गवाही देने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा। इस प्रावधान का प्रायोजन यह है कि पुलिस किसी भी अभियुक्त को शारीरिक यातना देकर अपने ही विरुद्ध गवाही देने या अपना अपराध स्वीकार करने के लिए मजबूर न करें। पुलिस या गुप्तचर विभाग का दायित्व है कि वह प्रमाण या सबूत इकट्ठे करके अपना काम करे, न कि अभियुक्त को यंत्रणा देकर। अनुच्छेद 21 ''जीवन की सुरक्षा और व्यक्तिगत स्वतंत्रता'' (Life and personal liberty) की चर्चा करता है।

7. संविधान में संशोधन करके मौलिक अधिकार सीमित किए जा सकते हैं (Rights can be abridged by way of constitutional Amendments)—संविधान-संशोधन की शक्ति 'साधारण विधायी शक्ति' से भिन्न है। इसलिए सभी की धारणा यह रही थी कि संविधान में संशोधन करके मूल अधिकारों में रद्दोबदल या कमी की जा सकती है, पर गोलकनाथ के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि संविधान में ऐसा कोई संशोधन नहीं किया जाएगा जिससे कि मौलिक अधिकारों में कमी या कटौती होती हो। इस निर्णय ने संसद की शक्ति को झकझोर कर रख दिया। परंतु अब इस निर्णय का कोई कानूनी महत्व नहीं है, क्योंकि निर्णय ने संसद की शक्ति को झकझोर कर रख दिया। परंतु अब इस निर्णय का कोई कानूनी महत्व नहीं है, क्योंकि बाद के एक मामले (केशवानंद भारती केस) में उच्चतम न्यायालय ने यह कहा कि संविधान में संशोधन करके मूल अधिकारों को सीमित किया जा सकता है। 1980 के मिनर्वा मिल्स केस में उच्चतम न्यायालय ने पुन: यह बात दोहराई।

8. संविधान नागरिक स्वतंत्रताओं पर ज्यादा बल देता है (The Constitution is primarily concerned with Civil Liberties)—ऐसा लगता है कि संविधान की दृष्टि नागरिक स्वतंत्रताओं (कानून के समक्ष समता, भाषण की स्वतंत्रता तथा संस्कृति व शिक्षा संबंधी अधिकारों) पर ही केंद्रित है। संविधान नागरिकों को 'काम पाने का अधिकार' (Right to Work) अथवा बुढ़ापे व बीमारी की स्थिति में राज्य की ओर से पोषण पाने का अधिकार (Right to maintenance) प्रदान नहीं करता।

9. कुछ नीति-निदेशक सिद्धांतों को प्रभावी बनाने के लिए मौलिक अधिकारों में काट-छाँट की जा सकती है (Rights may be abridged for giving Effect to some of the Directive Principles)—अनुच्छेद 39 (b) व 39 (c) में दिये गये निर्देशक सिद्धांतों को अमल में लाने के लिए यदि कोई कानून बनाया जाता है तो उसे इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकेगी कि वह मौलिक अधिकारों को छीनता है या उनमें कमी लाता है। अनुच्छेद 39 (b) व 39 (c) भौतिक संसाधनों के उचित वितरण का निर्देश देते हैं। यदि राज्य इन निर्देशों का पालन न करे तो समाज कभी भी समतावादी (Egalitarian) नहीं बन सकेगा। यह उचित ही है कि न्यायालय राज्य को इस कर्तव्य के पालन से न रोके या इसके पालन में बाधक न बनें।

1.11. मौलिक अधिकारों का वर्गीकरण (Classification of Fundamental Rights)

संविधान ने मौलिक अधिकारों की निम्नलिखित छह श्रेणियाँ स्वीकार की हैं—

1. समता का अधिकार (Right to Equality)
2. स्वतंत्रता का अधिकार (Right to Freedom)
3. शोषण के विरुद्ध अधिकार (Right against Exploitation)
4. धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार (Right to Freedom of Religion)
5. संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार (Cultural and Educational Rights); तथा
6. संवैधानिक उपचारों का अधिकार (Rights to Constitutional Remedies)।

I. समता का अधिकार (अनुच्छेद 14, 15, 16, 17 व 18) (Right of Equality)

समता का सिद्धांत 'निष्पक्षता' परबल देता है। वह यह मानकर चलता है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति की आत्म-विकास के समान अवसर उपलब्ध होने चाहिए। अवसरों के अभाव में किसी भी व्यक्ति की प्रतिभा अथवा योग्यता अविकसित न रह जाए। समता के अधिकार का वर्णन संविधान की पाँच धाराओं में मिलता है।

1. कानून के समक्ष समता (Equality before Law)—संविधान के अनुच्छेद 14 में कहा गया है—**''राज्य किसी भी व्यक्ति को कानून के समक्ष समता अथवा कानून के समान संरक्षण (equal protection of the law) से वंचित नहीं करेगा।''** दूसरे शब्दों में, कानून सबकी समान रूप से रक्षा करेगा, चाहे कोई व्यक्ति ऊँचे पद पर हो या निचले पद पर, धनी हो या निर्धन, गोरा हो या काला। 'विधि के शासन' (rule of law) का वास्तव में यही अर्थ है कि कानून की दृष्टि से सब समान हैं। 1978 में उच्चतम न्यायालय के सामने सौराष्ट्र विश्वविद्यालय के एक ऐसे रीडर (प्राध्यापक) का मामला आया जो विश्वविद्यालय की जाली डिग्रियाँ बनाने की कोशिश कर रहा था। अपराध सिद्ध हो जाने पर भी सेशन्स जज ने उसे मात्र कुछ घंटों के साधारण कारावास का दंड दिया था (Simple imprisonment till the rising of the court)। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश जस्टिस अय्यर (Justice V.R. Krishna Iyer) ने इस निर्णय पर टिप्पणी करते हुए यह कहा कि अभियुक्त को इतना हल्का दंड दिये जाने का कोई कारण नहीं दिखता। यह ठीक है कि अभियुक्त नवयुवक है, शिक्षित है, अच्छे धराने से संबंध रखता है तथा एक डिप्टी-कलेक्टर का बेटा है, किंतु नाममात्र की सजा (token punishment) देकर अदालती कार्रवाई को व्यर्थ की चीज नहीं बनाया जा सकता। जस्टिस अय्यर का कथन 'कानून के समक्ष समता' के सिद्धांत को स्पष्ट करता है।

उच्चतम न्यायालय के अनुसार मामलों को शीघ्रता से निबटाने के लिए विशेष अदालतों (Special Courts) का गठन किया जा सकता है। इस प्रकार की अदालतों से अनुच्छेद 14 में दिए गए समता के अधिकार का उल्लंघन नहीं होगा। **किसी व्यक्ति विशेष के साथ भेदभाव का प्रश्न यहाँ नहीं उठता, क्योंकि सभी मामलों को शीघ्रता से निपटाया जाना जरूरी है।** किसी भी राजकर्मचारी (Public servant) पर किसी ऐसे अपराध के लिए जोकि उसने अपने सरकारी दायित्व का निर्वाह करते हुए किया हो, तब तक मुकदमा दायर नहीं किया जा सकता जब तक कि उसके लिए सरकार की मंजूरी पहले ही प्राप्त न कर ली गई हो। प्रश्न यह है कि क्या इस तरह की व्यवस्था समता के सिद्धांत के अनुरूप है? भारत के उच्चतम न्यायालय ने इस व्यवसथा को न्यायोचित ठहराया है, क्योंकि सरकारी दायित्वों की पूर्ति में रत कर्मचारियों को संरक्षण देना आवश्यक है, जबकि साधारण नागरिकों को इस तरह के संरक्षण की जरूरत नहीं है।

परंतु कानूनी समानता का यह अर्थ नहीं कि किसी वर्ग विशेष के लिए कोई विशेष कानून बनाया ही नहीं जा सकता। जैसा कि **आइवर जेनिंग्स** (Ivor Jennings) ने कहा है, **''कानून के समक्ष समता का तात्पर्य यह है कि एक जैसे लोगों के साथ एक-सा व्यवहार किया जाए''** (Equality before the law means that the like should be treated alike)। अत: समाज के कमजोर और पिछड़े वर्गों के लिए विशेष प्रकार के कानून बनाए जा सकते हैं।

2. धर्म, वंश, जाति आदि के आधार पर भेदभाव की मनाही (Prohibition of Discrimination on grounds of Riligion, Race, Caste, etc.)—अनुच्छेद 15 दो बातें स्पष्ट करता है। प्रथम, **''राज्य केवल धर्म, वंश, जाति, लिंग व जन्म-स्थान या इनमें से किसी एक आधार पर नागरिकों के साथ भेदभाव नहीं करेगा।''** दूसरे, इनमें से किसी भी आधार पर कोई नागरिक दुकानों, भोजनालयों, मनोरंजन की जगहों, तालाबों और कुआँ का इस्तेमाल करने से वंचित नहीं किया जा सकेगा। **एम० वी० पायली** (M.V. Pylee) के शब्दों में, ''हमारे संविधान-निर्माता देश में प्रचलित विभिन्न

व्यक्ति अपने बेटे को शादी के समय घोड़ी पर बिठाने का भी साहस नहीं कर सकता। इन गाँवों में रहने वाले दलितों ने कुछ वर्ष पहले राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के समक्ष अपनी व्यथा रखी थी।

5. उपाधियों की समाप्ति (Abolition of Titles)—अनुच्छेद 18 राज्य पर यह प्रतिबंध लगाता है कि वह उपाधियाँ प्रदान न करे। भारत का कोई भी नागरिक किसी विदेशी राज्य से कोई उपाधि स्वीकार नहीं करेगा। वे व्यक्ति जो भारत के नागरिक नहीं हैं, पर जो किसी सरकारी लाभ या भरोसे के पद (office of profit or trust) पर हैं, राष्ट्रपति की अनुमति के बिना विदेशी राज्य द्वारा दी गई कोई उपाधि या पदवी को स्वीकार नहीं करेंगे। पदवी देने की प्रथा इसलिए समाप्त हो गई क्योंकि अंग्रेजी शासन के दौरान 'रायसाहब', 'सर' या 'रायबहादुर' जैसी उपाधियाँ ज्ञान या शिक्षा के आधार पर नहीं, बल्कि इस आधार पर दी जाती थीं कि अंग्रेजी राज्य को किन लोगों ने मदद पहुँचाई। स्वतंत्रता के बाद भारत रत्न, पद्म विभूषण तथा पदमश्री नामक अलंकार देने की प्रथा शुरू की गई। दिसंबर 1995 के एक निर्णय के अनुसार इस तरह के सम्मान 'पदवी' (title) के दायरे में नहीं आते। इनके द्वारा लोगों को साहित्य, कला, संगीत, नृत्य और विज्ञान के क्षेत्रों में श्रेष्ठता प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है। पर उच्चतम न्यायालय ने यह सुझाव अवश्य दिया कि इन मामलों के लिए नामों के चयन हेतु कुछ दिशानिर्देश (guidelines) तैयार किये जाएँ।

II. स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्देद 19, 20, 21 और 22) (Right to Freedom)

न्यायमूर्ति **पी० एन० भगवती** के शब्दों में, **''लोकतंत्र का अर्थ मात्र यह नहीं है कि प्रत्येक पाँच वर्ष की अवधि की समाप्ति पर प्रतिनिधियों का चुनाव कर लिया जाए। वास्तव में, इसका तात्पर्य यह है कि सभी स्तरों पर लोकतांत्रिक प्रक्रिया में आम लोगों की भागीदारी हो, लोगों के जीवन पर असर डालने वाले सभी प्रमुख फैसलों से लोग स्वयं जुड़ें।''** लेकिन ऐसा तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उन्हें भाषण, अभिव्यक्ति, सभा-सम्मेलन और संस्था व संघ बनाने का अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता। इन अधिकारों के बिना लोकतंत्र कारगर तरीके से काम कर ही नहीं सकता।

1. छह महत्वपूर्ण स्वतंत्रताएँ (Six Freedoms)—अनुच्छेद 19 द्वारा नागरिकों को 'सात स्वतंत्रताएँ' प्रदान की गई थीं, पर 44वें संशोधन द्वारा उनमें से एक निकाल दी गई। अब जो छह स्वतंत्रताएँ शेष रह गई हैं, वे इस प्रकार हैं—

(i) भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता (Freedom of Speech and Expression)—नागरिकों को भाषण, लेख, रेडियो, टेलीविजन, चलचित्र अथवा अन्य किसी माध्यम से अपने विचारों को प्रकट करने की स्वतंत्रता प्राप्त है। प्रेस यानी समाचारपत्रों की आजादी भी इसी के अंतर्गत आती है। **44वें संशोधन द्वारा संविधान में एक नया अनुच्छेद 361-A जोड़ दिया गया है जिसके अंतर्गत समाचार-पत्रों को संसद व विधानमंडलों की कार्यवाही प्रकाशित करने की पूर्ण स्वतंत्रता होगी।** परंतु राज्य को अधिकार है कि देश की अखंडता, सुरक्षा, शांति, नैतिकता, न्यायालयों के सम्मान और विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों को ध्यान में रखते हुए इन अधिकारों पर 'उचित प्रतिबंध' (reasonable restrictions) लगा सके। ऐसे भाषणों और वक्तव्यों को गैरकानूनी समझा जायेगा जो लोगों को अपराध की ओर प्रेरित करें। इसी प्रकार अश्लील साहित्य के प्रकाशन की छूट नहीं दी जा सकती।

सरकार द्वारा लगाये गये कौन से प्रतिबंध उचित हैं, कौन से नहीं, इन बातों का निर्णय न्यायालय करेंगे। गुजरात सरकार ने 'माओत्से तुंग का दर्शन' (Extracts from Mao Tse-tung) नामक पुस्तक पर इस आधार पर पाबंदी लगा दी थी कि इसमें राजद्रोह (Sedition) से संबंधित सामग्री संकलित है। न्यायमूर्ति पी० एन० भगवती ने इस पाबंदी को अवैध ठहराया और अपना निर्णय देते हुए यह टिप्पणी की—''विचारों के टकराव से ही सत्य का जन्म होता है। सत्य की सबसे अच्छी परख यह है कि दूसरे विचारों की तुलना में लोग इसे कहाँ तक स्वीकार करते हैं। इसलिए यदि इस जब्त पुस्तक का प्रकाशक

माओत्से-तुंग का साम्यवादी दर्शन लोगों को बताना चाहता है तो उसे ऐसा न करने देने का कोई कारण नहीं है। यह लोगों को ही फैसला करने दें कि वे कौन-सा दर्शन अथवा मत अपनाना चाहते हैं।'' उच्चतम न्यायालय ने अपने एक फैसले में अखबारी कागज के आयात पर लगाये गये नियंत्रणों को अवैध ठहराया। न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि ''**प्रकाशन पर नियंत्रण लगाने से अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर अनुचित आघात होता है।**'' 'सत्यम् शिवम् सुंदरम्' नामक फिल्म के निर्माता पर किसी व्यक्ति ने अश्लील फिल्म के निर्माण का आरोप लगाया था। उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि ''जिस फिल्म को सेंसर बोर्ड का प्रमाणपत्र मिल चुका है, उस पर फिर न्यायालय में दंड संहिता के अंतर्गत आरोप नहीं लगाया जा सकता।''

उत्तर प्रदेश के एक पुराने अधिनियम के अनुसार कोई व्यक्ति लिखित या मौखिक शब्द द्वारा किसी व्यक्ति या वर्ग को सरकारी दायित्व का निर्वाह न करने के लिए नहीं कह सकता है। डॉक्टर राममनोहर लोहिया के विरुद्ध यह आरोप था कि उन्होंने किसानों को इस बात के लिए उकसाया कि वे नहर के पानी पर लगाये गये करों का भुगतान न करें। उच्चतम न्यायालय ने उपर्युक्त अधिनियम को अवैध ठहराते हुए यह निर्णय दिया कि, ''सरकार की इस आधार पर आलोचना करना कि उसके द्वारा लगाये कर अनुचित हैं, लोकतांत्रिक शासन प्रणाली में अपराध नहीं माना जा सकता। ऐसी किसी भी आलोचना का शांति या सार्वजनिक व्यवस्था (public order) से कोई संबंध नहीं है।''

(ii) शांतिपूर्ण ढंग से बिना हथियारों के सभा-सम्मेलन करने की स्वतंत्रता (Freedom to assemble peaceably and without Arms)—नागरिकों को शांतिपूर्ण ढंग से एकत्र होने की स्वतंत्रता प्राप्त है। वास्तव में सभा-सम्मेलन भी विचारों की ही अभिव्यक्ति का एक साधन है। सुरक्षा और शांति की दृष्टि से इस अधिकार पर भी उचित प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, प्रदर्शन व जुलूस की स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं कि यातायात को ठप्प कर दिया जाए। सार्वजनिक मार्गों के सही इस्तेमाल की दृष्टि से सरकार उचित आदेश जारी कर सकती है। रोगियों या छात्र-छात्राओं को होने वाली असुविधा को टालने के लिए सार्वजनिक स्थानों पर ढोल पीटने या बाजा बजाने की मनाही की जा सकती है अथवा जुलूस के रास्तों को नियंत्रित किया जा सकता है।

(iii) संस्था या संघ बनाना (Freedom to form Associations and Unions)—नागरिकों को संस्था व संघ बनाने की स्वतंत्रता दी गई है, बशर्ते कि उनका उद्देश्य सुरक्षा व शांति को खतरा पहुँचाना न हो। 'संस्था या संघ' के अंतर्गत ये सभी समुदाय आ जाते हैं—राजनीतिक दल, मजदूर यूनियन, वाणिज्य और उद्योग मंडल, किसान संगठन, अध्यापक और छात्र संगठन, कर्मचारी संगठन तथा जातीय, सांप्रदायिक, भाषायी और धार्मिक समूह। सशस्त्र बलों (armed forces) और सार्वजनिक व्यवस्था बनाये रखने वाले बलों (forces) के सदस्यों को संसद किसी भी मौलिक अधिकार से वंचित रख सकती है। दूसरे शब्दों में, सशस्त्र बलों या अन्य बलों के सदस्यों को संघ या समुदाय बनाने का अधिकार नहीं है।

(iv) देश के भीतर घूमने-फिरने का अधिकार (Right to move freely)—नागरिकों को देश की सीमाओं के भीतर घूमने-फिरने का अधिकार प्राप्त है, परंतु सार्वजनिक हितों तथा अनुसूचित जनजातियाँ (scheduled tribes) की रक्षा के लिए राज्य इस अधिकार पर रोक लगा सकता है। उदाहरण के लिए, ऐसे किसी व्यक्ति के घूमने-फिरने पर उचित प्रतिबंध लगाया जा सकता है जो किसी संक्रामक रोग से ग्रस्त हो। इसी प्रकार सैनिक छावनियों और सामाजिक महत्व के स्थानों पर नहीं जाने के भी आदेश दिये जा सकते हैं।

(v) देश के किसी भाग में निवास करने और बसने की स्वतंत्रता (Right to reside and settle in any part of India)—नगारिकों को देश के किसी भी भाग में निवास करने और बस जाने की स्वतंत्रता प्राप्त है, परंतु सार्वजनिक हित और अनुसूचित जनजातियों की रक्षा के लिए इस अधिकार पर

भी उचित प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं। **एम० वी० पायली** (M.V. Pylee) के शब्दों में, **''अनुसूचित जनजातियाँ एक पृथक समुदाय है जिनकी अपनी सांस्कृतिक और संपत्ति संबंधी कुछ परंपराएँ हैं। ये सीधे-सादे लोग काफी पिछड़े हुए हैं। इन लोगों की सुरक्षा और लाभ के लिए साधारण नागरिकों द्वारा इनके क्षेत्र में बसने अथवा संपत्ति खरीदने पर प्रतिबंध लगाए गए हैं।''**

(vi) कोई-सा व्यवसाय अपनाने या कोई भी पेशा करने का अधिकार (Right to practise any Profession or to carry on any Occupation)—भारतीय नागरिकों को कारोबार की स्वतंत्रता प्राप्त है। परंतु इस अधिकार पर तीन प्रतिबंध लगाए गए हैं।

प्रथम, सार्वजनिक हितों की रक्षा के लिए कारोबार की स्वतंत्रता को सीमित किया जा सकता है। अभिप्राय यह है कि अनैतिक कारोबार या ऐसे किसी व्यवसाय पर प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं जो सार्वजनिक स्वास्थ्य या जन-सुरक्षा को खतरा पहुँचाए। बाजी लगाना या जुआ खेलना 'व्यापार' अथवा 'वाणिज्य' के अंतर्गत नहीं आता। इसलिए इन पर नियंत्रण लगाने का यह अर्थ नहीं कि राज्य व्यापारिक गतिविधियों में बाधा उत्पन्न कर रहा है। इसी प्रकार मादक पदार्थों का उत्पादन और विक्रय मौलिक अधिकारों का विषय नहीं बन सकता। यह ऐसा व्यसन है जिससे लोगों के स्वास्थ्य और चरित्र को हानि पहुँचती है। इसलिए पूर्ण मद्य-निषेध लागू किया जा सकता है अथवा मदिरा के विक्रय पर उचित प्रतिबंध लगाये जा सकते हैं। उच्चतम न्यायालय के 1989 के एक निर्णय के अनुसार, **''पटरियों और गली-कूचों में बैठकर या फेरी लगाकर व्यापार करना नागरिकों का मौलिक अधिकार है, पर इसके लिए किसी भी जगह पर स्थायी रूप से बैठने या जम जाने का कोई बुनियादी हक नहीं हैं।''**

द्वितीय, किसी भी व्यवसाय या कारोबार के लिए कुछ व्यावसायिक योग्यताएँ निर्धारित की जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, वकील या डॉक्टर का पेशा अपनाने के लिए यह जरूरी है कि नागरिक व्यावसायिक योग्यता रखते हों।

तृतीय, राज्य को स्वयं या किसी सरकारी कंपनी द्वारा किसी भी व्यापार या धंधे को अपने हाथों में ले लेने का अधिकार है। उसके इस कार्य का इस आधार पर विरोध नहीं किया जा सकता कि उससे नागरिकों के मौलिक अधिकारों का हनन होता है।

आपातकाल में स्वतंत्रताओं का स्थगन (Suspension of Freedoms during an Emergency)

राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल की घोषणा किए जाने पर उपरोक्त सभी स्वतंत्रताएँ स्थगित रहती हैं। अधिकारों के स्थगन से यह अभिप्राय है कि वे कायम तो रहते हैं, परंतु उनको लागू कराने के लिए नागरिक न्यायालय की शरण नहीं ले सकते। संविधान के अनुसार, ''जब युद्ध या बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह के कारण आपात् उदघोषणा लागू हो तब अनुच्छेद 19 का कोई भी प्रावधान राज्य को ऐसा कोई कानून बनाने से नहीं रोकेंगा जिसे, अगर वे प्रावधान न होते, तो उसे बनाने का अधिकार होता।'' अभिप्राय यह है कि जब आपातकाल की घोषणा कर दी जाती है तो राज्य इतना शक्तिशाली हो जाता है कि वह छहों स्वतंत्रताओं को निगल जाए। उसे उन कार्यों को करने का अधिकार मिल जाता है जिनसे भाषण, सभा-सम्मेलन या घूमने-फिरने की आजादी में कटौती होती हो। परंतु जैसे ही आपात् घोषणा समाप्त होती है, ये सभी स्वतंत्रताएँ फिर से जी उठती हैं।

आपात् स्थिति में अन्य मौलिक अधिकारों का लागू किया जाना भी स्थगित किया जा सकता है। राष्ट्रपति एक आदेश जारी कर सकते हैं जिसके अनुसार मूल अधिकारों को लागू कराया जान रोका जा सकता है। पर अनुच्छेद 20 व 21 में दिए गए अधिकार आपात् स्थिति में भी स्थगित नहीं किए जा सकेंगे।

2. दोषी ठहराए जाने के बारे में बचाव (Protection in respect to conviction for Offences)—अनुच्छेद 20 नागरिकों को निम्नलिखित आश्वासन देता है—

(i) मौजूदा किसी कानून को भंग करने पर ही किसी व्यक्ति को दंडित किया जा सकता है। किसी व्यक्ति को उससे अधिक दंड नहीं दिया जा सकेगा जो उस अपराध के लिए तय किया गया है। जिस दिन कोई अपराध किया गया है, उस दिन के बाद यदि उस अपराध के लिए पहले की अपेक्षा और ज्यादा कड़े दंड की व्यवस्था कर दी गई हो तो अपराधी को नयी व्यवस्था के अनुसार दंडित नहीं किया जा सकता।

(ii) किसी व्यक्ति पर एक अपराध के लिए एक बार से अधिक न केस चलाया जायेगा, न एक बार से अधिक सजा दी जायेगी।

(iii) किसी भी व्यक्ति को अपने विरुद्ध गवाही देने के लिए मजबूर नहीं किया जाएगा। 'गवाही देना'—इन शब्दों का अर्थ केवल अदालत में गवाही देने तक सीमित नहीं है। यह शब्दावली दोषी व्यक्ति पर दबाव डालकर पहले ही गवाही ले लेने को भी इंगित करती है। अभिप्राय यह है कि किसी व्यक्ति को मार-पीटकर या उसे गैरकानूनी तरीके से नजरबंद रखकर इस बात के लिए विवश नहीं किया जायेगा कि वह यह बयान दे कि अमुक अपराध उसने ही किया है।

3. जीवन की सुरक्षा और निजी स्वतंत्रता (Protection of Life and Personal Liberty)—अनुच्छेद 21 में कहा गया है कि, **''कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य किसी तरीके से किसी व्यक्ति को जीवन या निजी स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जाएगा।''** इस अनुच्छेद के संबंध में दो प्रश्न उठते हैं—

प्रथम, इस अनुच्छेद के अंतर्गत कौन-सी स्वतंत्रताएँ आती हैं। उच्चतम न्यायालय के अनुसार अनुच्छेद 19 में जो स्वतंत्रताएँ दी गई हैं, उनके अलावा और जो भी स्वतंत्रताएँ हैं, वे सब 'निजी स्वतंत्रता' के अंतर्गत आ जाती हैं। व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह कानून की सीमाओं के अंतर्गत रहते हुए अपने ढंग से अपना जीवन बिताए और अपना विकास करे। विदेश जाने के अधिकार (right to travel abroad) को भी व्यक्ति की निजी स्वतंत्रता माना जा सकता है। श्रीमती मेनका गांधी के पासपोर्ट को कोई कारण बताये बिना अनुलक्ष्य बना दिया गया था। उच्चतम न्यायालय ने प्रशासन के इस आदेश को अवैध घोषित कर दिया। न्यायालय ने अपने निर्णय में यह कहा कि विदेश जाने का अधिकार मनुष्य का एक 'मूल अधिकार' (Basic Right) है, क्योंकि इससे उसके व्यक्तित्व का विकास होता है और उसे नयी-नयी बातों की जानकारी मिलती है। **कई कानून विशेषज्ञों का कहना है कि यदि व्यक्ति के जीवन और उसके आदर्शों या विश्वासों को खतरा पैदा हो जाए तो वह देश छोड़कर भाग जाने का अधिकार रखता है।**

द्वितीय, यह ठीक है कि 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' से ही किसी व्यक्ति को उसकी स्वतंत्रता से वंचित किया जा सकता है, परंतु क्या अनुचित (unreasonable) प्रक्रिया को भी 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' समझा जायेगा? उच्चतम न्यायालय ने यह कहा कि कानून द्वारा जो भी प्रक्रिया निश्चित की जाए वह 'निष्पक्ष और उचित प्रक्रिया होनी चाहिए' (procedure must be fair and reasonable)। अगस्त 1978 में उच्चतम न्यायालय ने अपने एक निर्णय में कहा—**''इससे ज्यादा दुख की बात और क्या हो सकती है कि एक गरीब राज-मजदूर से दस हजार रुपयों की जमानत माँगी जाए।''** उच्चतम न्यायालय ने अपने एक निर्णय में इस बात पर बल दिया कि गरीब लोगों को नि:शुल्क कानूनी सहायता मिलनी चाहिए। जिस आदमी के पास मुदकमा लड़ने के साधन नहीं हैं, उसकी स्वतंत्रता की रक्षा कैसे हो सकती है? विद्वान न्यायाधीश के शब्दों में, **''नि:शुल्क कानूनी सेवा प्रदान करना राज्य का कर्तव्य है; नागरिक को यह सेवा 'अधिकार' के रूप में दी जाए, 'भिक्षा या दान' के रूप में नहीं''** (This is the State's duty and not Government's charity)।

उच्चतम न्यायालय के एक निर्णय के अनुसार जीवन और स्वतंत्रता पर जब अतिक्रमण होता है तो दु:खी और अपमानित व्यक्ति मुआवजे (compensation) का दावा कर सकता है। बिहार के भोमा चरण ओराव (Bhoma charan Oraon) को स्वस्थचित होने के बावजूद एक मजिस्ट्रेट ने पागलखाने में भेजा

था। वह छह वर्ष तक पागलखाने में रहा। 1983 में उच्चतम न्यायालय ने न केवल उसकी रिहाई का ही आदेश दिया, बल्कि उसे मुआवजा दिये जाने का भी निर्णय दिया था। न्यायालय ने अपने निर्णय में यह कहा कि **''पागलखाने में छह वर्ष तक जीते जी मृत व्यक्ति जैसा जीवन बिताने की क्षतिपूर्ति किसी भी धनराशि से नहीं हो सकती। पर अनुच्छेद 21 के अंतर्गत दिये गये मौलिक अधिकारों पर अतिक्रमण के मामलों में मात्र मुआवजा ही एक ऐसा उपचार है जो हम दे सकते हैं।''**

4. बंदीकरण और नजरबंदी के संबंध में बचाव (Protection against Arrest and Detention in certain cases)—अनुच्छेद 22 में तीन अधिकारों का उल्लेख मिलता है—

(i) जिसे बंदी बनाया गया है उसे शीघ्र से शीघ्र बंदी बनाए जाने का कारण बताया जाएगा। 1969 में मधुलिमये को उनकी गिरफ्तारी के बाद कई दिनों तक गिरफ्तारी का कोई स्पष्ट कारण नहीं बताया गया। उच्चतम न्यायालय ने इस मामले को मौलिक अधिकारों का उल्लंघन ठहराया और उनकी बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिका स्वीकार कर ली। न्यायालय ने अपने निर्णय में यह कहा कि बंदी को बंधन से मुक्त होने का अधिकार हासिल है।

(ii) बंदी बनाए गए व्यक्ति को अपनी पसंद के वकील से सलाह लेने का अधिकार होगा।

(iii) बंदी बनाए गए व्यक्ति को चौबीस घंटों के भीतर मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया जाएगा। मजिस्ट्रेट की आज्ञा के बिना किसी को भी 24 घंटे से अधिक समय के लिए बंदी नहीं रखा जा सकेगा।

अपवाद—इस अधिकार के दो अपवाद हैं—**प्रथम**, ये अधिकार शत्रु देश के नागरिक को प्राप्त नहीं होंगे। **द्वितीय**, निवारक नजरबंदी (Preventive Detention) के अन्तर्गत की गई गिरफ्तारी के संबंध में भी ये व्यवस्थाएँ लागू नहीं होती।

निवारक नजरबंदी (Preventive Detention)—निवारक नजरबंदी का अर्थ है—''बिना मुकदमा चलाये किसी व्यक्ति को हिरासत में रखना'' (detention of a person without trial)। कुछ लोगों को इसलिए बंदी बनाया जाता है जिससे कि उन्हें अपराध करने से रोका जा सके। उनके विरुद्ध कुछ ऐसे तथ्य होते हैं जिनसे कार्यपालिका को यह संदेह होता है कि यदि उन्हें बंदी नहीं बनाया गया तो ये लोग अपराध करेंगे। निवारक नजरबंदी का उद्देश्य ''किसी कार्य के लिए दंडित करना नहीं होता, बल्कि वह उस काम को करे उससे पूर्व उस पर रोक लगाना है'' (It is not a punitive but a precautionary measure)।

निवारक नजरबंदी के अधीन की गई गिरफ्तारी के संबंध में व्यक्ति को दो अधिकार उपलब्ध हैं। एक तो यह कि तीन महीने से ज्यादा समय तक उसे उसी स्थिति में बंदी रखा जा सकेगा जब 'सलाहकार मंडल' (Advisory board) उसकी नजरबंदी की पुष्टि कर दे। सलाहकार मंडल के सदस्य उच्च न्यायालय के वर्तमान व सेवानिवृत्त दोनों तरह के न्यायाधीश हो सकते हैं। दूसरे, निवारक नजरबंदी कानून में नजरबंदी की जो अधिकतम सीमा तय की गई है, उससे ज्यादा समय तक कोई व्यक्ति हिरासत में नहीं रहेगा।

44वें संशोधन अधिनियम (1978) ने तीन महीने की अवधि को घटाकर दो मास कर दिया था और सलाहकार मंडल के गठन में भी कुछ रद्दोबदल की थी। पर संशोधन के इस अंश को अभी तक लागू नहीं किया गया। जब तक उसे अधिसूचित (notify) नहीं किया जाता तब तक पहले वाली अवस्था ही लागू रहेगी।

निवारक नजरबंदी का मूल्यांकन—निवारक नजरबंदी कानून सरकार के हाथ में एक अत्यंत शक्तिशाली शस्त्र है, जिसका दुरुपयोग संभव है। यह कानून इस सिद्धांत के प्रतिकूल है कि ''जब तक कोई व्यक्ति स्पष्टत: विधि के विरुद्ध आचरण न करे तब तक उसे कोई दंड नहीं दिया जा सकता।'' इस कानून की आड़ में सरकार अपने विरोधियों को बिना वजह सता सकती है अथवा केवल संदेह के आधार पर

अंधविश्वास विद्यमान हैं, जैसे कि सती, देवदासी और नरबलि प्रथा। इस तरह की प्रथाओं पर रोक लगाई गई है। धर्म-प्रचार (propagation of religion) का अर्थ है—''दूसरों को अपनी धार्मिक मान्यताएँ या धर्म के दार्शनिक सिद्धांत बताना अथवा समझाना।'' उसका अर्थ ''बलात् धर्म परिवर्तन'' (forced conversion) नहीं, क्योंकि उससे विभिन्न संप्रदायों के बीच तनाव बढ़ता है और हंगामा खड़ा हो सकता है। उच्चतम न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा है कि छल-कपट (fraud), प्रलोभन (inducement) या बल-प्रयोग (force) द्वारा किसी भी व्यक्ति का धर्म-परिवर्तन कराना संविधान के विरुद्ध है।

दूसरे, धार्मिक समुदायों की आर्थिक और राजनीतिक गतिविधियों पर रोक लगाई जा सकती है। उदाहरण के लिए, यह संभव है कि कोई धार्मिक समुदाय यह प्रचार करने लगे कि युद्ध के दौरान सरकार को सहयोग देना अथवा सेना में भर्ती होना 'पाप' है। इस बात से देश की सुरक्षा को खतरा पैदा हो सकता है। इसलिए धार्मिक समुदायों की इस तरह की गतिविधियों पर रोक लगाई जा सकती है। इसी प्रकार उनकी निधि (endowment) या दान से प्राप्त राशि का भी नियमन किया जा सकता है।

तीसरे, हिंदुओं की धार्मिक संस्थाओं को हिंदू समाज के सभी वर्गों के लिए खोला जा सकता है। हिंदू संस्थाओं के अंतर्गत यहाँ सिख, जैन और बौद्ध समुदायों की संस्थाएँ भी शामिल हैं।

2. धार्मिक मामलों का प्रबंध करने की आजादी (Freedom to manage Religious Affairs)—अनुच्छेद 26 प्रत्येक धार्मिक संप्रदाय को यह अधिकार देता है कि वह (i) धार्मिक और जनकल्याणकारी संस्थाएँ चलाए; (ii) अपने धार्मिक मामलों का आप प्रबंध करें; (iii) चल और अचल संपत्ति हासिल करें, तथा (iv) कानून के अनुसार उपरोक्त संपत्ति का प्रबंध करे। धार्मिक संप्रदायों को यदि चल और अचल संपत्ति ग्रहण करने का अधिकार न दिया जाए तो वे न तो अपने धर्म का प्रचार कर सकते हैं और न परोपकारी संस्थाएँ ही चला सकेंगे। पर इस तरह के कानून अवश्य बनाये जा सकते हैं कि कोई पुजारी या महंत या खादिम संस्था की संपत्ति को अपनी व्यक्तिगत संपत्ति न बना सके। दूसरे शब्दों में, संपत्ति का उपयोग संस्था के लिए किया जाए और आय-व्यय का हिसाब रखा जाए। जगन्नाथ मंदिर का प्रबंध पुरी के महाराजा के हाथों में था। सरकार ने यह अधिकार राजा के हाथों से निकालकर एक समिति को सौंप दिया। उच्चतम न्यायालय ने इस व्यवस्था को सही ठहराया, क्योंकि उसका उद्देश्य मंदिर के प्रबंध में सुधार लाना और उसकी संपत्ति की रक्षा करना था।

3. किसी विशेष धर्म को बढ़ाने के लिए करों की अदायगी नहीं (Freedom as to payment of Taxes for promotion of any particular Religion)—अनुच्छेद 27 के अनुसार किसी व्यक्ति को कोई ऐसा कर देने के लिए मजबूर नहीं किया जाएगा जो किसी धर्म विशेष को बढ़ाने या बनाए रखने के काम आए। संविधान का यह उपबंध धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत पर आधारित है। भारत में कई मजहबों के अनुयायी निवास करते हैं। ऐसी स्थिति में यदि राज्य कोई टैक्स वसूल करके किसी धर्म विशेष को बढ़ावा दे तो अन्य धर्मों के प्रति अन्याय होगा। पर सांप्रदायिक दंगे के दौरान यदि किसी पूजा-स्थल (मंदिर, मजिस्द, गुरुद्वारा या चर्च) को कोई क्षति पहुँचे तो सरकार द्वारा उसकी मरम्मत कराई जा सकती है। सरकार के ऐसे किसी कृत्य को अवैधानिक नहीं कहा जाएगा। इसके अतिरिक्त 'धर्म' और 'संस्कृति' के बीच एक स्पष्ट अंतर है। दिल्ली उच्च न्यायालय के एक निर्णय के अनुसार, **''सरकार यदि बौद्ध कला या जैन कला की रक्षा के कोई संग्रहालय स्थापित करती है तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह जैन धर्म या बौद्ध धर्म का प्रचार कर रही है। कलाकृतियाँ हमारे देश की पवित्र धरोहर हैं। उनका संबंध किसी संप्रदाय विशेष से न होकर देश की संस्कृति से है।''**

4. सरकारी शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा पर रोक (No religious Instruction in institutions manintained out of State Funds)—अनुच्छेद 28 के अनुसार—

(i) किसी ऐसी शिक्षण संस्था में जिसका कुल खर्च राजकोष से चलता हो धार्मिक शिक्षा का प्रबंध नहीं किया जाएगा, (ii) पर यह बात उस शिक्षण संस्था पर लागू नहीं होगी जिसे राज्य से मान्यता तो प्राप्त है पर जो पूर्णतया राजकोष से संचालित न हो। किंतु ऐसी शिक्षण संस्थाओं में भी कोई व्यक्ति अपनी या अपने अभिभावक की इच्छा के बगैर धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने पर मजबूर नहीं किया जा सकता।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि संविधान ने देश में धर्मनिरपेक्ष राज्य (Secular State) की स्थापना की है। धर्मनिरपेक्ष राज्य धर्म-विरोधी नहीं होता। **धर्मनिरपेक्षता का अर्थ यह है कि राज्य न तो किसी धर्म के मानने वालों को दूसरों से श्रेष्ठ मानेगा और न उन्हें दूसरों की अपेक्षा हीन समझेगा।**

V. संस्कृति व शिक्षा संबंधी अधिकार (अनुच्छेद 29 व 30)
(Cultural and Educational Rights)

संविधान में 'अल्पसंख्यक' (minority) शब्द की व्याख्या नहीं की गई है। भाषाई अल्पसंख्यक (linguistic minority) कहलाने के लिए यह जरूरी है कि समुदाय की अपनी अलग बोली (spoken language) हो, पर इसकी अलग लिपि (script) का होना आवश्यक नहीं है। जहाँ तक धार्मिक अल्पसंख्यकों का प्रश्न है, भारत में मुसलमानों, ईसाइयों और पारसियों को अल्पसंख्यक माना जाता है। अल्पसंख्यकों के विषय में संविधान निर्माताओं की एक स्पष्ट सोच यह रही कि उनकी धार्मिक और सांस्कृतिक पहचान को बनाये रखा जाए। उनके हितों की रक्षा के लिए संविधान में निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गई हैं—

1. भाषा, लिपि और संस्कृति के बनाए रखने का अधिकार (Right to conserve the Language, Script and Culture)—अनुच्छेद 29 के अनुसार (i) अल्पसंख्यकों को अपनी भाषा, लिपि व संस्कृति को बनाए रखने का अधिकार होगा, तथा (ii) राजकोष से सहायता पाने वाली शिक्षा संस्थाओं में किसी भी व्यक्ति को केवल धर्म, जाति, वंश अथवा भाषा के आधार पर ही दाखिला देने से इंकार नहीं किया जाएगा।

2. शिक्षण संस्थाएँ स्थापित करने का अधिकार (Right to establish Educational institutions)—अल्पसंख्यकों को अपनी पसंद की शिक्षण संस्थाएँ कायम करने और उनका प्रबंध करने का अधिकार होगा। राज्य आर्थिक सहायता देने में ऐसी संस्थाओं के साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करेगा। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि शिक्षा संस्थाओं को मनमाने ढंग से चलाया जाए। यदि शिक्षा संस्थाएँ शिक्षा निदेशालय अथवा विश्वविद्यालय द्वारा बनाए गए नियमों को न मानें तो शिक्षा के क्षेत्र में अशांति फैल जाएगी। फ्रैंक एंथनी पब्लिक स्कूल (Frank Anthony Public School) वाले मुकदमे में उच्चतम न्यायालय ने 1986 में यह निर्णय दिया कि अल्पसंख्यक शिक्षा संस्थाओं को संविधान यह अधिकार प्रदान नहीं करता कि ''वे अपने कर्मचारियों को मनमाने ढंग से दबा सकें। मान्यता-प्राप्त अन्य प्राइवेट स्कूलों की तरह अल्पसंख्यक स्कूलों को भी शिक्षा निदेशक की अनुमति के बिना किसी भी शिक्षक या कर्मचारी को बर्खास्त करने या पदावनत (demote) करने का कोई अधिकार नहीं होगा।''

उच्चतम न्यायालय के एक निर्णय के अनुसार इस अधिकार की आड़ में शिक्षा संस्थानों को धन कमाने का आवरण नहीं बनाया जा सकता। **''अल्पसंख्यकों की शिक्षा संस्थाएँ वास्तव में शैक्षिक संस्थाएँ होनी चाहिए, न कि शिक्षा-संस्था के बहाने से कोई लुका-छिपी धोखाधड़ी''** ("Educational Institutions of the minority in truth and reality and not masked phantoms") यह बात आंध्र प्रदेश ईसाई शिक्षा समिति द्वारा स्थापित मेडिकल कॉलेज के विषय में कही गई थी, क्योंकि समिति ने विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित कोई भी शर्त पूरी नहीं की थी और समिति का उद्देश्य ''धोखेबाजी से धन बटोरना था'' ("It was nothing but a daring imposture and skuiduggery")।

VI. अधिकारों के संरक्षण की व्यवस्था अर्थात् 'संवैधानिक उपचारों का अधिकार' (Guarantees Provided for the Protection of the Rights, *i.e*, Right to Constitutional Remedies)

संविधान न केवल अधिकारों की एक लंबी सूची ही प्रस्तुत करता है, बल्कि उन अधिकारों की रक्षा का बंदोबस्त भी करता है। अधिकारों की रक्षा का भार उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों को सौंपा गया है। अनुच्छेद 32 द्वारा इन न्यायालयों को कुछ लेख अथवा आदेश जारी करने के अधिकार दिए गए हैं। इस अनुच्छेद के महत्व पर बोलते हुए **डॉ० अंबेडकर** ने कहा था, **''यदि कोई मुझसे यह पूछे कि संविधान की वह कौन-सी धारा है जो सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है और जिसके बिना यह संविधान शून्य हो जाएगा तो मैं ३२वीं धारा के अतिरिक्त और किसी धारा की ओर संकेत नहीं करूँगा। संविधान की आत्मा और हृदय यह धारा ही है और मुझे इस बात की बहुत खुशी है कि संविधान सभा ने इसके महत्व को समझा है।''** अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायालयों को निम्नलिखित आदेश (Writs) जारी करने के अधिकार दिए गए हैं—

1. बंदी प्रत्यक्षीकरण का आदेश (Writ of Habeas Corpus)—हैबियस कॉरपस का अर्थ है—**''शरीर को हमारे समक्ष पेश करो।''** न्यायालयों की ओर से यह आदेश उस समय जारी किया जाता है जब किसी व्यक्ति को नजरबंद किया गया हो। जिस व्यक्ति को बंदी बनाया गया है वह स्वयं अथवा उसके संबंधी या मित्र या वकील न्यायालय से यह प्रार्थना करते हैं कि ''बंदी बनाये जाने की वजह अस्पष्ट और अनिश्चित है'' (that the grouds of detention are vague and uncertain)। यदि न्यायालय यह समझे कि किसी व्यक्ति को अनुचित एंग से बंदी बनाया गया है तो वह यह आदेश दे सकता है कि प्रार्थी की ''आजादी तुरंत बहाल की जाए'' (should be set at liberty at once)। इस रिट या आदेश का उपयोग बच्चों की अभिभावकता (guardianship) के संबंध में भी किया गया है। जब बच्चे की अभिभावकता के विषय में कोई झगड़ा हो तो न्यायालय बचचे को उस व्यक्ति के संरक्षण में सौंप सकते हैं जो वास्तव में उसका अभिभावक हो।

2. परमादेश (Mandamus)—मैंडेमस का अर्थ है—**''हम आदेश देते हैं।''** जब कोई व्यक्ति, संस्था, निगम अथवा न्यायालय अपने सार्वजनिक कर्तव्यों की पूर्ति न करे तो उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय यह आदेश दे सकते हैं कि कर्तव्यों की पूर्ति की जाए। इस संबंध में यह जरूरी है कि प्रार्थी ने अधिकारियों से उनके कर्तव्यवालन की माँग की थी, किंतु उन्होंने कार्रवाई करने से इंनकार कर दिया। सार्वजनिक कर्तव्यों की पूर्ति के लिए ही न्यायालय इस तरह के आदेश जारी करते हैं, निजी कर्तव्यों की पूर्ति के लिए नहीं। इसके अतिरिक्त प्रार्थी को यह सिद्ध करना पड़ता है कि उसके किसी कानूनी अधिकार का उल्लंघन हुआ है। उदाहरण के लिए, यदि किसी कॉलेज की प्रबंध समिति सभी उम्मीदवारों के प्रार्थना-पत्र पर विचार करने के बाद उनमें से किसी एक उम्मीदवार को प्रिंसिपल के पद पर नियुक्त कर देती है तो कोई भी उम्मीदवार 'परमादेश' लेख को जारी कराने का अधिकार नहीं रखता, क्योंकि उसका यह कानूनी अधिकार नहीं कि प्रिंसिपल के पद पर उसी की नियुक्ति की जाए।

3. प्रतिषेध (Prohibition)—प्रतिषेध का अर्थ है 'मना करना।' जब कोई न्यायालय अपने अधिकार क्षेत्र (jurisdiction) के बाहर जा रहा हो अर्थात् कोई ऐसा कार्य कर रहा हो जो उसके अधिकार क्षेत्र में न हो तो उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालय उसे ऐसा करने से रोक सकता है। प्रतिषेध आदेश केवल न्यायिक अधिकारियों के विरुद्ध ही जारी किए जा सकते हैं, कार्यपालिका के विरुद्ध नहीं। यदि कोई जज या न्यायिक अधिकारी प्रतिषेध आदेश के बावजूद कार्रवाई जारी रखता है तो उसके विरुद्ध न्यायालय की मानहानि की कार्यवाही की जा सकती है।

4. अधिकार पृच्छा (Quo Warranto)—इसका अर्थ है—**''तुम्हें क्या हक है?''** (What is your Authority?)। जब कोई व्यक्ति किसी सार्वजनिक पद को गैरकानूनी तरीके से प्राप्त कर लेता है तो

न्यायालय पूछ सकता है कि ''उसे उस पदपर बने रहने का क्या है? जिस व्यक्ति के खिलाफ यह आदेश जारी किया जाता है उसे अपने दावे के समर्थन में जरूरी सबूत पेश करने पड़ते हैं। सही सबूत न मिलने पर उसे सके पद से हटाया जा सकता है। उत्तर प्रदेश सरकार ने एक हारे हुए प्रत्याशी को नगर पार्षद (Municipal Commissioner) के पद पर मनोनीत कर दिया था। सरकार को मनोनीत करने का अधिकार तो हैं, परंतु कानून के अनुसार हारा हुआ व्यक्ति मनोनीत नहीं किया जा सकता है। इसलिए उच्च न्यायालय ने उस व्यक्ति को नगर पार्षद के पद से हटा दिया।''

5. उत्प्रेषण लेख (Write of Certiorari)—उत्प्रेषण लेख का अर्थ है—**''और अधिक सूचित कीजिए।''** इस लेख द्वारा न्यायालय किसी न्यायालय को यह आदेश देता है कि किसी केस से संबंधित कागजात या उसमें जो निर्णय हुआ है, उन सबको उसके पास भेज दिया जाए। ऐसा करने के दो उद्देश्य हैं—प्रथम तो यह कि वह केस उस न्यायालय में न चलकर उच्च न्यायालय में चल सके। ऐसा तब किया जाता है जब किसी न्यायालय का गठन ठीक से न किया गया हो अर्थात् उसके न्यायाधीश कुछ इस किस्म के व्यक्ति हों जो वहाँ बैठने की योग्यता न रखते हों। दूसरे, यदि न्यायालय द्वारा दिया गया निर्णय न्याय के विरुद्ध हो तो उस फैसले को रद्द करके उसके स्थान पर दूसरा निर्णय दिया जा सके।

1.9. विधायी प्रक्रिया (Legislative Process)

संसद का सबसे महतवपूर्ण कार्य देश के लिए कानून बनाना है। संसद में कानून निर्माण के लिए विधायी प्रक्रिया विधेयक पेश करके शुरू की जाती है। विधेयक (bills) जो सदन में पेश किये जाते हैं प्रस्तावित कानून के प्रारूप (draft) होते हैं। इस पर सदन में चर्चा होती है। इस पर चर्चा होने के पश्चात् आवश्यकता पड़ने पर संशोधन प्रस्तावित किये जाते हैं। कोई भी विधेयक (bills) को कानून का रूप लेने के लिए उसे दोनों सदनों से गुजरना पड़ता है। दोनों सदनों से पारित होने के पश्चात इसे कानून का रूप प्रदान करने के लिए राष्ट्रपति के समक्ष उनकी अनुमति के लिये भेजा जाता है। राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करने के पश्चात विधेयक अधिनियम बन जाता है।

विधेयक तीन प्रकार के होते हैं—

1. साधारण-विधेयक,
2. धन-विधेयक और
3. वित्त-विधेयक।

इन तीनों प्रकार के विधेयकों के लिए विधायी प्रक्रिया भिन्न-भिन्न है।

1. साधारण-विधेयक (Ordinary Bill)—साधारण-विधेयक संसद के किसी भी सदन में पेश किये जा सकते हैं। साधारण विधेयक को प्रत्येक सदन में तीन बार पढ़ा (Reading of the Bill) जाता है। पहले वाचन में मंत्री सदन की अनुमति से विधेयक को सदन में पेश करता है। यदि विधेयक विवादग्रस्त नहीं है तो इस पर कोई विचार-विमर्श नहीं किया जाता है। दूसरे वाचन में सदन विधेयक पर विचार-विमर्श करता है। यह विचार-विमर्श दो खंडों में होता है। प्रथम खंड में विधेयक के उपबंधों पर सामान्य बहस तब की जाती है जब उसका प्रस्तावक उस पर विचार करने के लिए या उसे प्रवर समिति को भेजे जाने के लिए कहता है। यदि विधेयक को प्रवर समिति को नहीं भेजा जाता है तो उस पर पूरा विचार-विमर्श किया जायेगा और यदि उसे प्रवर समिति को भेजा गया है तो प्रवर समिति की रिपोर्ट के आने के बाद विधेयक के एक-एक खंड पर विस्तारपूर्वक विचार-विमर्श किया जायेगा। विचार-विमर्श में संशोधन भी किये जा सकते हैं और तब मतदान होता है। तीसरे वाचन में विधेयक में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया जाता है। सामान्य विचार-विमर्श के बाद विधेयक सदन द्वारा पारित कर दिया जाता है।

एक सदन द्वारा पारित किये जाने पर विधेयक दूसरे सदन को भेजा जाता है। दूसरे सदन में भी उक्त प्रक्रिया पुनः दोहरायी जाती है।

दूसरा सदन यदि विधेयक को एकमत से पारित कर देता है तो विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति के लिए भेज दिया जाता है। राट्रपति की अनुमति प्राप्त हो जाने पर विधेयक कानून का रूप ले लेता है।

2. धन-विधेयक (Money Bill)—किसी कर के लगाने घटाने परिवर्तन करने, संचित निधि से धन का विनियोग करने, धन उधार लेने इत्यादि के संबंध में लाये गये विधेयक को धन-विधेयक कहते हैं। कौन-सा विधेयक धन विधेयक है। इसकी चर्चा अनुच्छेद 110 (1) में की गई है।

धन विधेयक केवल लोकसभा में ही पेश किया जा सकता है। यह राज्यसभा में पेश नहीं किया जा सकता है। कोई भी धन विधेयक राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना लोकसभा में प्रस्तावित नहीं किया जा सकता है। धन विधेयक लोकसभा द्वारा पारित किये जाने के पश्चात राज्यसभा को उसकी सिफारिश के लिए भेजा जाता है, राज्यसभा 14 दिनों के भीतर लोकसभा को अपनी सिफारिश के साथ भेज देगी। लोकसभा इस सिफारिश को स्वीकार कर लेती है तो विधेयक दोनों सदनों में पारित समझा जायेगा। यदि लोकसभा सिफारिश अस्वीकार कर देती है तो भी धन-विधेयक उसी रूप में दोनों सदनों से पारित समझा जायेगा। यदि 14 दिनों के भीतर राज्यसभा विधेयक को वापस नहीं करती है तो उक्त अवधि के समाप्त होने पर उसे दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जायेगा।

इस प्रकार धन-विधेयक के मामले में लोकसभा को अंतिम शक्ति प्राप्त है। राज्यसभा को किसी धन विधेयक को अस्वीकार करने या संशोधित करने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

3. वित्त-विधेयक (Finance Bill)—वित्त-विधेयक अनु० 117 के अंतर्गत सरकार द्वारा पेश किया जाता है। ये सरकारी विधेयक होते हैं। परंतु यह विधेयक सिर्फ लोकसभा में ही पेश किये जा सकते हैं। इसे राज्यसभा में पेश नहीं किया जा सकता है। इस विधेयक को भी धन-विधेयक की तरह राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति लेकर ही लोकसभा में पेश किया जा सकता है। वित्त-विधेयक किसी भी साधारण विधेयक की तरह पारित किये जाते हैं। इसे पारित करने की प्रक्रिया साधारण होती है।

इस प्रकार विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित होना चाहिए। विधेयक दोनों सदनों से पारित होने के पश्चात राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए पेश किया जाता है। अनुमति के पश्चात विधेयक अधिनियम बन जाता है।

परंतु विधेयक पर दोनों सदनों में गतिरोध पैदा होने पर राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुला सकता है। संयुक्त बैठक में अगर विधेयक पारित हो जाता है तो राष्ट्रपति की मंजूरी के पश्चात विधेयक कानून का रूप ले लेता है।

कोई भी विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हो जाने के पश्चात ही अधिनियम बन सकता है। परंतु इसके पहले कोई विधेयक जब दोनों सदनों से पारित हो जाता है तो उसे कानून का रूप प्रदान करने के लिए राष्ट्रपति के समक्ष उनकी अनुमति के लिए भेजा जाता है। कुछ विधेयक जैसे साधारण विधेयक संसद के किसी भी सदन में पेश किये जा सकते हैं, परंतु कुछ विधेयक जैसे धन विधेयक केवल लोकसभा में ही पेश किये जा सकते हैं, इसे राज्यसभा में पेश नहीं किया जा सकता है। धन विधेयक राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना लोकसभा में पेश नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार विधेयक दोनों सदनों द्वारा एकमत से पारित होना चाहिए। यदि दोनों सदनों में विधेयक पर असहमति है, तो विधेयक पारित नहीं समझा जायेगा। विधेयक को जब एक सदन पारित कर देता है तो इसे दूसरे सदन को पारित करने के लिए भेजा जाता है। अगर दूसरा सदन भी इसे पारित कर देता है तो राष्ट्रपति को अनुमति प्राप्त हो जाने पर विधेयक कानून का रूप ले लेता है। इस प्रकार, किसी विधेयक पर दोनों सदनों में गतिरोध की स्थिति में भारतीय संविधान दोनों सदनों की संयुक्त बैठक का उपबन्ध करता है। संविधान का अनु० 108 यह उपबन्धित करता है कि यदि

विधेयक को पारित करने में दोनों सदनों में असहमति है तो राष्ट्रपति दोनों सदनों की सयुक्त बैठक आहूत कर सकता है। यदि दोनों सदनों की युक्त बैठक में विधेयक दोनों सदनों के उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों को कुल संख्या के बहुमत से पारित हो जाता है तो वह विधेयक दोनों सदनों से पारित समझा जायेगा। इसके पश्चात विधेयक को राष्ट्रपति की मंजूरी के लिए भेजा जायेगा। राष्ट्रपति की मंजूरी के पश्चात ही विधेयक अधिनियम का रूप लेगा। POTA अध्यादेश को पारित कराने में जब यह अध्यादेश राज्य सभा द्वारा वापस कर दिया गया तो राष्ट्रपति अनु० 108 का प्रयोग करते हुए संसद के दोनों सदनों की बैठक बुलाकर उसे पारित किया।

हिंदू विवाह एक संस्कार है संविदा नहीं

प्राचीन हिंदू विधि के अंतर्गत विवाह के कुछ उद्देश्य होते थे। विवाह का प्रथम उद्देश्य पितृऋण से मुक्ति पाना था और पितृऋण से मुक्ति पुत्र उत्पन्न होने के बाद ही होती थी जिसके लिए विवाह आवश्यक था। विवाह का दूसरा उद्देश्य नरक से उद्धार पाना था। नरक से उद्धार पुत्र द्वारा ही संभव था, क्योंकि पुत्र ही श्राद्ध क्रिया को संपन्न कर पिता को नरक से मुक्त कर सकता था। तीसरा यह कि किसी भी व्यक्ति के लिए यज्ञ करना आवश्यक माना जाता था और यज्ञ बिना पत्नी के नहीं हो सकता था। इसलिए भी विवाह आवश्यक था। चौथा वंश परंपरा चलाने के लिए पुत्र आवश्यक था। उपरोक्त कारणों से ही हिंदू विवाह को एक संस्कार माना गया था। इसके अतिरिक्त विवाह को एक जन्म-जन्मांतर का संस्कार भी माना जाता था। इसी कारण विवाह के द्वारा स्थापित दाम्पत्य संबंध को जीवनभर अटूट माना जाता था और इस संबंध को किसी भी स्थिति में किसी भी पक्ष द्वारा तोड़ने की अनुमति नहीं मिलती थी। अत: विवाह को एक धार्मिक अनुष्ठान भी माना जाता था।

परंतु हिंदू विवाह अधिनियम 1955 के लागू हो जाने के पश्चात हिंदू विधि के अंतर्गत विवाह के स्वरूप में काफी परिवर्तन आया है। अब यह सिर्फ धार्मिक बंधन नहीं रह गया है और नही अब यह ऐसा संबंध है जिसे तोड़ा नहीं जा सकता है। यद्यपि विवाह का प्राचीन धार्मिक स्वरूप समाज में अभी भी मौजूद है फिर भी हिंदू विवाह अधिनियम 1955 तथा विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम 1976 ने इसके संस्कारात्मक स्वरूप में काफी हद तक परिवर्तन लाया। अब विवाह एक संस्कार नहीं बल्कि एक संविदा है। इस नई विधि ने विवाह के संस्कारात्मक स्वरूप को बदलकर संविदात्मक रूप प्रदान किया है। इस परिवर्तन का सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण यह है कि पुरानी हिंदू विधि में जहाँ विवाह के माध्यम से पति एवं पत्नी में अटूट संबंध स्थापित हो जाता था वहाँ अब अधिनियम के विभिन्न उपबंधों के अंतर्गत इसे तोड़ा भी जा सकता है। अधिनियम में विवाह के दोनों पक्षों को न्यायिक पृथक्करण (Judicial Separation), विवाह-विच्छेद (Divorce) की सुविधाएँ इस बात को प्रमाणित करती हैं कि विवाह का संस्कारात्मक स्वरूप अब लगभग समाप्त हो गया है। अब वयस्क कन्या अपना विवाह स्वयं तय कर सकती है और यदि वह अपने इस अधिकार का प्रयोग करती है तो निश्चित रूप से विवाह एक संविदा होगा, संस्कार नहीं।

यद्यपि अधिनियम ने हिंदू विवाह को संविदात्मक स्वरूप प्रदान किया है, परंतु हिंदू विवाह की रुढ़ियाँ समाज में अभी भी प्रचलित हैं और ये रुढ़ियाँ जब तक प्रचलित रहेंगी विवाह के संस्कारात्मक स्वरूप को पूर्णतया नष्ट नहीं किया जा सकेगा। अधिनियम में विवाह के धार्मिक अनुष्ठान को कायम रखा गया है। धारा 7 के अंतर्गत विवाह के लिए धार्मिक क्रियाओं का पालन आवश्यक है। विवाह में धार्मिक क्रियाओं जैसे सप्तपदी अर्थात् अग्नि के समक्ष सात फेरे का किया जाना आवश्यक है। विवाह में यदि इन धार्मिक क्रियाओं का पालन नहीं होता है तो विवाह विधिमान्य नहीं होगा। इस प्रकार अधिनियम के विवाह के अनुष्ठान संबंधी स्वरूप को कायम रखा है। अत: निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि, ''हिंदू विवाह न तो संस्कार ही रहा और न संविदा ही, बल्कि यह दोनों का सम्मिश्रण है।''

हिंदू विवाह अधिनियम 1955 की धारा 5 एवं 7 में हिंदू विवाह की शर्तों का उल्लेख किया गया है तथा धारा 11, 12, 17 एवं 18 में इसके उल्लंघन के परिणामों का उल्लेख किया गया है। हिंदू विवाह

अधिनियम 1955 की धारा 5 में 1976 एवं 1978 के संशोधन के पश्चात जिन शर्तों का उल्लेख किया गया है वह एक वैध विवाह के लिए आवश्यक है। यदि ये शर्तें पूरी नहीं की गई तो विवाह वैध नहीं होगा। ये शर्तें निम्नलिखित हैं—

1. एक विवाह (One marriage)—हिंदू विवाह अधिनियम 1955 की धारा 5 सिर्फ एक विवाह की अनुमति देती है। एक विवाह का तात्पर्य है कि एक पत्नी के जीवित रहते या एक पति के जीवित रहते दूसरा विवाह नहीं किया जा सकता है। दूसरा विवाह तभी किया जा सकता है जब एक पक्ष विधुर या तलाकशुदा हो या वधु पक्ष विधवा या तलाक लिये हो। अर्थात् वर के लिए यह आवश्यक है कि वह अविवाहित हो, विधुर या तलाकशुदा; वधु भी अविवाहित, विधवा या तलाकशुदा हो। कौमार्यपन का होना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार एक विवाह का अर्थ है कि विवाह के समय किसी भी पक्षकार का पति या पत्नी जीवित नहीं हो। जो कोई इस शर्त का उल्लंघन करता है तो प्रथमत: धारा 11 के अनुसार विवाह शून्य होगा और वर को पति की हैसियत प्राप्त नहीं होगी और वधु को पत्नी की हैसियत नहीं मिलेगी तथा धारा 17 के अनुसार वह भारतीय दंड विधान की धारा 494 एवं 495 के अधीन दंड का भागी होगा। इस संबंध में **रामप्रसाद सेठ बनाम उत्तर प्रदेश (A.I.R. 1961)** के मामले में इलाहाबाद उच्च न्यायालय का निर्णय बहुचर्चित है। रामप्रसाद सेठ की जीवित पत्नी से कोई संतान नहीं थी। इसलिए वह दूसरा विवाह करना चाहता था। उनका तर्क था कि हिंदू धर्म के अनुसार पुत्र ही पितरों का उद्धार करता है। अत: पुत्र के बिना मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है। परंतु इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने इस तर्क को स्वीकार नहीं किया और अधिनियम में एक विवाह के सिद्धांत को उचित ठहराते हुए कहा कि मोक्ष की प्राप्ति दत्तक पुत्र से भी हो सकती है, क्योंकि दत्तक पुत्र भी सगे पुत्र जैसा ही होता है।

2. विकृत चित्त (Unsoundness of mind)—धारा 5 (ii) के अनुसर—विवाह के समय दोनों पक्षकारों में से कोई—

(क) विकृत चित्त के परिणामस्वरूप एक मान्य सहमति देने में असमर्थ नहीं हो, या

(ख) यदि सहमति देने के योग्य है परंतु वह इस प्रकार की मानसिक दुर्बलता या इस सीमा तक मानसिक रूप से पीड़ित न हो कि वह संतान उत्पत्ति के लायक न हो, या

(ग) पागलपन या मिरगी के दौरे से बार-बार पीड़ित रहता हो, तो विवाह शून्यकरणीय (Viodable) होगा।

इस प्रकार विवाह के समय विवाह का कोई भी पक्षकार विकृति चित्त (unsound mind) का न हो। इस शर्त के उल्लंघन में किया गया विवाह शून्य न होकर शून्यकरणीय होगा।

3. विवाह की आयु (Requisite age of the marriage)—बाल-विवाह (निरोध) नियम 1978 के द्वारा संशोधन के पश्चात धारा 5 (iii) में वर के लिए 21 वर्ष की आयु तथा वधू के लिए 18 वर्ष की आयु निश्चित की गई है। इस शर्त के उल्लंघन में किया गया विवाह न तो शून्य होगा न शून्यकरणीय। अर्थात् विवाह की वैधता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, परंतु इस शर्त का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को धारा 18 के अधीन कारावास या जुर्माने की सजा हो सकती है।

4. पक्षकार वर्जित संबंध के भीतर न हों (Not under prohibited relationship)—हिंदू विवाह अधिनियम 1955 की धारा 5 (iv) के अंतर्गत यह निर्देश दिया गया है कि विवाह धारा 3 (g) में वर्णित नातेदारी के भीतर नहीं होना चाहिए। प्रतिषिद्ध नातेदारी की डिग्रियों के अंतर्गत कोई भाई-बहन विवाह नहीं कर सकता है। धारा 11 के अनुसार, इस नातेदारी की डिग्रियों के अंदर किया गया विवाह शून्य होता है तथा धारा 18 (B) के अधीन पक्षकार का एक महीने तक के कारावास की सजा या एक हजार रुपये तक के जुर्माने से दंडित किया जा सकता है। परंतु दोनों पक्षों के बीच प्रथा या रुढ़ि यदि इस प्रकार

की शादी की अनुमति प्रदान करती है तो विवाह मान्य होगा। परंतु प्रथा या रुढ़ि निश्चित हो, तर्कसंगत हो और लोकनीति के विरुद्ध न हो और न अनैतिक हो।

5. विवाह के पक्षकार एक दूसरे के सपिंड न हों—दायभाग विधि के अनुसार जिस व्यक्ति को श्राद्ध अनुष्ठान के समय पितरों का पिंड (पका हुआ चावल का गोला) देने का हक है उसे सपिंड कहा जाता है। मिताक्षरा विधि के अंतर्गत सपिंड का अर्थ है—रक्त संबंध अर्थात् जिन दो व्यक्तियों के वंशानुगत एक ही रक्त प्रवाहित है वे एक दूसरे के सपिंडा हैं। पिता की ओर से सपिंडा नातेदारी पाँच पीढ़ी तक तथा माता की ओर से तीन पीढ़ी तक है। इस प्रकार हिंदू विवाह अधिनियम 1955 की धारा 5 (v) के अनुसार—विवाह के पक्षकार का एक दूसरे के सपिंड नहीं होना चाहिए। ऐसे विवाह को अधिनियम की धारा 11 शून्य घोषित करती है तथा धारा 18 इसे दंडनीय बनाती है। सन् 2007 में धारा 18 के संशोधन कर दंड के प्रावधान को और अधिक कठोर बनाया गया है।

6. कर्मकांड-सप्तपदी—'सप्तपदी' का शाब्दिक अर्थ होता है—'सात कदम का' अर्थात् पवित्र अग्नि के समक्ष वर और वधू द्वारा संयुक्त सात कदम चलना। वर-वधू हाथ में हाथ मिलाकर नहीं चलते। वर-वधू किसी कपड़े के टुकड़े के माध्यम से एक दूसरे से जुड़े होते हैं। चूँकि सात कदम होमाग्नि के समक्ष चलना पड़ता है, इस कारण ऐसी प्रथा (रुढ़ि) प्रचलित हो गई कि जिसके अनुसार वर-वधू पवित्र अग्नि के सात फेरे लगाते हैं। वे सात फेरे सप्तपदी कहलाते हैं।

हिंदू विवाह अधिनियम 1955 रीतियों और कर्मकांडों को विवाह के लिए अनिवार्य माना है। परंतु कौन-सी रीतियों या कर्मकांडों को अपनाया जाए यह निर्णय अधिनियम ने पक्षकारों के ऊपर छोड़ दिया है कि चाहे तो ये शासत्रविहित कर्मकांड करें या रुढ़िगत कर्मकांड। इस प्रकार जहाँ विवाह में अनुष्ठित होने वाले किसी पक्षकार के रूढ़िगत रीतियों और कर्मकांडों में शास्त्रिय अनुष्ठान का भाग 'सप्तपदी' भी शामिल है, वहाँ विवाह तब संपूर्ण विवाह माना जाता है जब सातवाँ फेरा पूरा हो जाता है। परंतु यदि विवाह के रुढ़िगत रीतियों और कर्मकांडों में 'सप्तपदी' शामिल नहीं है तो विवाह उस समय पूर्ण और बाध्यकारी हो जायेगा जब कोई ऐसा कर्मकांड, जो उस समुदाय में प्रचलित रूढ़ि के अनुसार विवाह को पूर्ण बनाता हो, संपन्न कर लिया जाए।

हिंदू लड़की का एक मुस्लिम से विवाह—हिंदू विवाह अधिनियम 1955 में विवाह के लिए जाति और समुदाय का बंधन नहीं है अत: कोई हिंदू लड़की अपनी रीतियों और कर्मकांडों के आधार पर किसी मुस्लिम में भी शादी कर सकती है और ऐसा विवाह अधिनियम के तहत वैध माना जायेगा।

बाल-विवाह—बाल-विवाह अधिनियम 1929 बाल-विवाह पर रोक लगाती है। इस अधिनियम में वधू की उम्र सीमा 18 तथा वर की सीमा 18 की गई है। इस आयु खंड के उल्लंघन में किया गया विवाह न तो शून्य है और न ही शून्यकरणीय। परंतु प्रत्येक व्यक्ति जो इस शर्त के उल्लंघन में विवाह कराता है दंड एवं कारावास का भागीदार होगा, परंतु ऐसा विवाह वैध होता है।

हिंदू विवाह अधिनियम 1955 के पूर्व विवाह का स्वरूप संस्कारात्मक था। परंतु इस अधिनियम के लागू होने के पश्चात हिंदू विधि के अंतर्गत विवाह के स्वरूप में काफी परिवर्तन आया है। अब यह सिर्फ धार्मिक बंधन नहीं रह गया है और न ही अब यह ऐसा संबंध ही है जिसे तोड़ा नहीं जा सकता है। यद्यपि विवाह का प्राचीन धार्मिक स्वरूप आज भी मौजूदा है फिर भी हिंदू विवाह अधिनियम 1955 तथा विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम 1976 ने इसके संस्कारात्मक स्वरूप को काफी हद तक परिवर्तन लाया है। अब विवाह सिर्फ एक संस्कार नहीं बल्कि एक संविदा भी है। इस नई विधि ने विवाह के संस्कारात्मक स्वरूप के साथ-साथ संविदात्मक स्वरूप भी प्रदान किया है। इस परिवर्तन का सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण यह है कि पुरानी हिंदू विधि में जहाँ विवाह के माध्यम से पति एवं पत्नी में अटूट संबंध स्थापित हो जाता था, वहाँ अब इस अधिनियम के विभिन्न उपबंधों के अंतर्गत इसे तोड़ा भी जा सकता है। अधिनियम में

- परिवाद एक दोषारोपण है जो मौखिक अथवा लिखित हो सकता है तथा जिसे मजिस्ट्रेट के समक्ष इस उद्देश्य से लाया जाता है कि दंड प्रक्रिया संहिता के अधीन अपराध करने वाले ज्ञात या अज्ञात व्यक्ति के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही की जाए।
- लोक अभियोजक की नियुक्ति दंड प्रक्रिया संहिता की धारा (२४) के प्रावधान के अधीन की जाती है।
- किसी अपराध में अपराधियों का साथ देने वाला व्यक्ति जब सरकार की ओर से अपराधी के विरुद्ध गवाही देने के लिए तैयार हो जाता है तो उसे मुखबिर या इकबाली गवाह कहते हैं

अभ्यास-प्रश्न (Questions)

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अधिकार से आपका क्या तात्पर्य है? अर्नेस्ट वार्कर तथा जी०डी० वार्कर द्वारा दी गई अधिकार की परिभाषा को स्पष्ट कीजिए।
2. नागरिक अधिकार एवं मानव अधिकार की विवेचना कीजिए।
3. नकारात्मक और सकारात्मक अधिकार में क्या अंतर है? उदाहरण सहित समझाइये।
4. कानूनी अधिकार का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
5. किन मानव अधिकारों को विश्व के विभिन्न मंचों पर मान्यता दी गई हैं? संक्षेप में वर्णन कीजिए

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. विधि के शासन की सीमाओं का वर्णन कीजिए।
2. पुलिस द्वारा भेजी गई रिपोर्ट राज्य सरकार द्वारा निर्धारित फार्म में दी जाती है। उसमें किन-किन बातों का उल्लेख होता है?
3. मौलिक अधिकारों के महत्व अथवा उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।
4. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें—

   (b) मेनका गांधी बनाम भारत संघ

   (a) इंद्रा साहनी बनाम भारत संघ।
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें—

   (a) परिवाद (b) पुलिस रिपोर्ट

   (c) मुखबिर या इकबाली गवाह (d) आरोप-पत्र
6. मौलिक अधिकारों को कितनी श्रेणियों में वर्गीकृत किया जाता है? किन्हीं तीन का वर्णन कीजिए।
7. विधायी प्रक्रिया से आपका क्या अभिप्राय है?

बहु-विकल्पीय प्रश्न

1. अधिकार राज्य से व्यक्ति को प्राप्त होने वाली ..... जिनसे उसे आत्म-विकास में सहायता मिलती है।

   (a) अनुकूल परिस्थितियाँ (b) नये अवसर

   (c) दोनों (a) तथा (b) (d) उपरोक्त में से कोई नहीं
2. राज्य मे व्यक्ति की जिन गतिविधियों पर राज्य की ओर से कोई प्रतिबंध नहीं होता, उन्हे ..... कहा जाता है।

   (a) सकारात्मक अधिकार (b) नकारात्मक अधिकार

   (c) मौलिक अधिकार (d) उपरोक्त में से कोई नहीं
3. ..... अधिकार व्यक्ति को यह संदेश देता है कि राज्य की ओर से व्यक्ति के आत्मविश्वास को बढ़ावा देने के लिए क्या व्यवस्था की गयी है।

   (a) सकारात्मक (b) नकारात्मक

   (c) दोनों (a) तथा (b) (d) उपरोक्त में से कोई नहीं

4. ..... राज्य में नकारात्मक अधिकारों पर विशेष बल दियाजाता है।
   (a) पूँजीवादी (b) नसमाजवादी
   (c) दोनों (a) तथा (b) (d) उपरोक्त में से कोई नहीं
5. कल्याणकारी राज्य में ..... की व्यवस्था की जाती है।
   (a) सकारात्मक अधिकार (b) नकारात्मक अधिकार
   (c) दोनों (a) तथा (b) (d) उपरोक्त में से कोई नहीं
6. नागरिक अधिकारों का स्त्रोत ..... का विचार है।
   (a) समाजवाद (b) नागरिकता
   (c) पूँजीवाद (d) उपरोक्त में से कोई नहीं
7. ऐसी व्यवस्था जिसमें नागरिकों पर एक ही कानून लागू नहीं होता है–
   (a) विधि का शासन (b) राजा का शासन
   (c) प्राकृतिक कानून (d) उपरोक्त में से कोई नहीं
8. मनुष्य का सर्वप्रथम प्राकृतिक अधिकार है ..... का अधिकार।
   (a) जीवन (b) जीवन की सुरक्षा
   (c) स्वतंत्रता (d) सम्पत्ति
9. कानून की उचित प्रक्रिया का अधिकार के अन्तर्गत वे सब अधिकार आ जाते हैं जो ..... की संकल्पनाओं के साथ जुड़े हैं।
   (a) कानून के शासन (b) कानून के समक्ष समानता
   (c) समान कानूनी संरक्षण (d) उपरोक्त सभी
10. ..... लिखित या मौखिक एक दोषारोपण है, जिसे मजिस्ट्रेट के समक्ष इस उद्देश्य से लाया जाता है कि इस संहिता के अधीन अपराध करने वाले ज्ञात या अज्ञात व्यक्ति के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही की जाए।
   (a) वाद (b) परिवाद
   (c) आरोप (d) उपरोक्त में से कोई नहीं
11. अपराधी के विरुद्ध साक्ष्य एकत्र करने की कार्यवाही को ..... कहा जाता है।
   (a) विचारण (b) अनुसंधान
   (c) जाँच (d) रिपोर्ट
12. कानून के समक्ष समानता व्यक्ति का ..... अधिकार है।
   (a) नागरिक (b) मानव
   (c) नैतिक (d) उपरोक्त में से कोई नहीं
13. संविधान संशोधन द्वारा मौलिक अधिकारों को ..... किया जा सकता है।
   (a) सीमित (b) सीमित नहीं
   (c) कहा नहीं जा सकता (d) उपरोक्त में से कोई नहीं
14. राज्य किसी भी व्यक्ति को कानून के समक्ष समता के अधिकार से ..... कर सकता है।
   (a) वंचित नहीं (b) वंचित
   (c) कहा नहीं जा सकता (d) उपरोक्त में से कोई नहीं
15. अग्रिम जमान कौन दे सकता है?
   (a) उच्च न्यायालय (b) सेशन न्यायालय
   (c) दोनों (a) तथा (b) (d) उपरोक्त में से कोई नहीं

16. ..... कानून है जिन्हें अदालतों द्वारा लागू कियाजा सकता है।

(a) नियम (b) उपबन्ध

(c) अधिकार (d) कर्त्तव्य

उत्तर

1. (c) 2. (b) 3. (b) 4. (a) 5. (c) 6. (b) 7. (a 8 (a) 9. (d) 10. (b)

11. (b) 12. (a) 13. (a) 14. (a) 15. (c) 16. (c)

❑❑❑

इकाई (Unit)

2

भारतीय कानून

(LAW IN INDIA)

संरचना

- उद्देश्य (Objectives)
- परिचय (Introduction)
- प्रशासनिक विधि का विकास (Development of Administrative Method)
- मौलिक विधि
- विधिक प्रक्रिया
- भारतीय कानून
- दंड प्रक्रिया संहिता
- उच्चतम न्यायालय (Supreme Court)
- उच्चतम न्यायालय की शक्तियाँ एवं क्षेत्राधिकार (Power and Jurisdiction of Supreme Court)
- अधीनस्थ न्यायालय (Subordinate Courts)
- सारांश (Summary)

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)
संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

2.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय का अध्ययन करने के पश्चात् आप निम्नलिखित के उत्तर दे पायेंगे-

- प्रशासनिक विधि के विकास संबंधी बिंदु क्या है?
- भारत में प्रशासनिक विधि के स्रोत कौन-से हैं?
- उच्चतम न्यायालय के गठन में कौन-से कारक कार्य करते हैं?
- उच्चतम न्यायालय की शक्तियाँ एवं क्षेत्राधिकार को स्पष्ट कीजिए।
- उच्चतम न्यायालय के न्यायधीशों की नियुक्ति की क्या विधियाँ हैं?
- सेशन कोर्ट की प्रक्रिया को समझाइये।

2.2. परिचय (Introduction)

प्राचीन काल में राज-काज चलाना एक सरल कार्य था। परंतु अब प्रशासकीय प्राधिकारियों एवं जन-सामान्य के संबंध जटिल होते जा रहे हैं। इस इक्कीसवीं शताब्दी में राज्यों का कार्य केवल शांति व्यवस्था कायम रखना, विधि को लागू करना, राज्य की सुरक्षा अथवा विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा करना ही नहीं रह गया है, बल्कि राज्य ने उन समस्त कार्यों को अपने ऊपर ले लिया है जो समाज के प्रत्येक क्षेत्र के विकास से संबंध रखते हैं।

1947 में ब्रिटिश शासन से स्वतंत्रता मिलने के पश्चात् भारत के प्रशासनिक विकास में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। इधर कुछ वर्षों में सरकार के कार्य-क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में प्रशासनिक विधि का विकास धीमा था। परंतु बीसवीं शताब्दी में समाज के तीव्र विकास के कारण आवास, शिक्षा, बीमारी जन-स्वास्थ्य, जीवन की सुरक्षा, रोजगार आदि अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गईं, जिसके कारण लोकहित के लिए प्रशासन को इन कार्यों में हस्तक्षेप करना पड़ा।

स्वतंत्रता के बाद एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना हेतु संविधान में आवश्यक प्रावधान बनाए गए हैं। संविधान के अनुच्छेद 38 में राज्य का यह दायित्व बताया गया है कि वह जन-कल्याण को बढ़ावा देने के लिए एक सामाजिक व्यवस्था को कायम करें जिसमें सभी व्यक्तियों को आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक न्याय प्राप्त हो सके।

2.3. प्रशासनिक विधि का विकास (Development of Administrative Method)

प्रशासनिक कार्यों के विकास और लोक-प्राधिकारियों एवं नागरिकों के बीच भारी और जटिल नए संबंधों ने विधि की जिस नई शाखा को जन्म दिया है उसे प्रशासनिक विधि कहा जाता है। वैसे प्रशासनिक विधि किसी-न-किसी रूप में प्राचीनकाल में भी विद्यमान थी क्योंकि राज्य प्रशासन के द्वारा अपनी प्रजा के कल्याण, सुख और सुविधाओं का ध्यान रखा जाता था तथा उनकी समस्याओं को सुलझाया जाता था। परंतु इसका वास्तविक विकास मुगल सल्तनत के प्रादुर्भाव के साथ हुआ। मुगल सम्राटों ने प्रशासनिक कार्यकलापों पर विशेष व्यक्तिगत अभिरुचि दिखाई। मुगल सल्तनत के पतन के पश्चात अंग्रेजी साम्राज्यवाद के रूप में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रशासनिक अधिकारी द्वारा इसका पर्याप्त विकास हुआ। 1857 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपना प्रशासन समाप्त कर सभी दायित्व ब्रिटिश सरकार को सौंप दिया और तब से ब्रिटिश संसद द्वारा भारत का प्रशासन अधिनियम निर्मित किया जाने लगा। 1919 का एक्ट तथा 1935 में गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट पारित किया गया। इससे भारत में प्रशासन की नई व्यवस्था कायम हुई जिसके कारण प्रशासनिक विधि का पर्याप्त विकास हुआ।

1947 में ब्रिटिश शासन के पतन के बाद स्वतंत्र भारत के प्रशासनिक विकास में काफी वृद्धि हुई। इधर कुछ वर्षों में सरकार के कार्य-क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। सुरक्षा, जनशांति, दंडविधि को लागू करने के अतिरिक्त वर्तमान राज्य कुछ ऐसे कार्य करने लगे हैं जो जन-कल्याण से संबंध रखते हैं। ये समाज-कल्याण की अनेक योजनाओं की पूर्ति में भी हस्तक्षेप करने लगे हैं। अब राज्य का कार्य केवल शांति-व्यवस्था कायम रखना, विधि को लागू करना, राज्य की सुरक्षा अथवा विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा करना ही नहीं रह गया है बल्कि राज्य ने उन समस्त कार्यों को भी अपने ऊपर ले लिया है जो समाज के प्रत्येक क्षेत्र के विकास से संबंध रखते हैं, जैसे उद्योग, शिक्षा, व्यापार, यातायात, बैंकिंग, बीमा इत्यादि इन सभी घटनाओं का परिणाम यह हुआ कि राज्य के कार्यों में काफी वृद्धि हुई जिसके कारण प्रशासनिक अधिकारियों के हाथ में अनेक प्रकार की शक्तियों का केंद्रीकरण हो गया। संवैधानिक दृष्टि से भी प्रशासनिक अभिकरणों को बहुत बड़ी मात्रा में विधायी एवं न्यायिक शक्ति प्रदान की गयी हैं। प्रशासनिक अधिकारियों की बढ़ी हुई शक्तियों के परिप्रेक्ष्य में यह आवश्यक समझा जाने लगा कि उस पर प्रभावी नियंत्रण रखा जाए। प्रशासनिक विधि प्रशासनिक प्राधिकारियों के इस प्रकार बढ़े हुए अधिकारों को नियंत्रण के लिए उपचार प्रदान करती है। इसलिए दिनोंदिन इसका विकास होता गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में प्रशासनिक विधि का विकास धीमा था। परंतु बीसवीं शताब्दी में समाज के तीव्र विकास के कारण आवास, शिक्षा, बीमारी, जन-स्वास्थ्य, जीवन की सुरक्षा, रोजगार आदि अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गईं जिस कारण लोकहित के लिए प्रशासन के इन कार्यों में हस्तक्षेप करना पड़ा। इन्हीं बातों के कारण प्रशासन के पक्ष में प्रचुर मात्रा में विधायी तथा न्यायिक अधिकारों को भी प्रत्यायोजित करना पड़ा। विधानमंडलों के लिए यह संभव नहीं था कि वह विधि-निर्माण

संबंधी कार्य को विस्तार से संपन्न कर सके। वे केवल विधि के स्थूल रूप को ही प्रस्तुत कर सकते हैं। यही कारण था कि प्रशासनिक अधिकारियों को न्यायिक शक्तियाँ भी सौंप देने की आवश्यकता हुई। इस प्रकार समाज एवं राष्ट्र के विकास के साथ-साथ प्रशासनिक विधि का भी विकास होता गया। भारत के विधि आयोग ने अपनी चौदहवीं रिपोर्ट में प्रशासनिक विधि के विकास के कारणों पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि राज्यों के कार्यों में वृद्धि, कल्याणकारी समाज की स्थापना का उद्देश्य, कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि तथा प्रशासन को अनेक उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सौंपना ऐसे कार्य थे जिनके सफल संचालन के लिए प्रशासनिक अधिकारियों पर उचित निगरानी तथा नियंत्रण रखना आवश्यक है। प्रशासनिक विधि का मुख्य उद्देश्य सरकार की शक्तियों को कानूनी सीमा के अंदर रखना है। यह प्रशासनिक अधिकारियों को शक्ति के दुरुपयोग से रोकती है। यही कारण है कि प्रशासनिक विधि का विकास निरंतर होता चला आ रहा है।

प्राचीन काल में राज-काज चलाना एक सरल कार्य था। परन्तु अब प्रशासकीय प्राधिकारियों एवं जन-सामान्य के संबंध जटिल होते जा रहे हैं। इस इक्कीसवीं शताब्दी में राज्यों का कार्य केवल शांति व्यवस्था कायम रखना, विधि को लागू करना, राज्य की सुरक्षा अथवा विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा करना ही नहीं रह गया है, बल्कि राज्य ने उन समस्त कार्यों को अपने ऊपर ले लिया है जो समाज के प्रत्येक क्षेत्र के विकास से संबंध रखते हैं। इन सभी घटनाओं का परिणाम यह हुआ कि राज्य के कार्यों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई जिस कारण प्रशासनिक अधिकारियों के हाथ में अनेक प्रकार की शक्तियों का केंद्रीयकरण हो गया। प्रशासनिक विधि प्रशासनिक प्राधिकारियों के इस प्रकार बढ़े हुए अधिकारों के नियंत्रण के लिए उपचार प्रदान करती है। इसीलिए दिनोंदिन इसका महत्व बढ़ता जा रहा है।

आधुनिक युग में आवास, बीमारी, शिक्षा, जन-स्वास्थ्य, जीवन की सुरक्षा आदि अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं। इस प्रकार अब राज्य के सामाजिक कार्य; जैसे—जन-स्वास्थ्य, शिक्षा, रोजगार, उत्पादन तथा आवश्यक वस्तु की पूर्ति के लिए नियम लागू करना तथा दैनिक उपयोगिता की वस्तुओं की पूर्ति के संबंध में काफी वृद्धि हुई। प्रशासन को लोकहित के लिए इन कार्यों में हस्तक्षेप करना पड़ा। इन कार्यों के सफल संचालन के लिए विधानमंडलों के लिए यह संभव नहीं था कि वह विधि निर्माण संबंधी कार्य को विस्तार से संपन्न कर सके। इन्हीं सब बातों के कारण प्रशासन के पक्ष में प्रचुर मात्रा में विधि तथा न्यायिक अधिकारों को प्रत्यायोजित करना पड़ा। संवैधानिक दृष्टिकोण से भी प्रशासनिक अभिकरणों को बहुत बड़ी मात्रा में विधायी एवं न्यायिक शक्तियों को प्रत्यायोजित किया गया है और इस प्रकार के प्रत्यायोजन के बिना प्रशासन कार्य सुधार रूप से एवं द्रुतगति से नहीं चल सकता है। अत: प्रशासन के इन्हीं विभिन्न कार्यों को पूरा करने के लिए प्रशासनिक अधिकारियों को स्वतंत्रता दी गई। परंतु प्रशासनिक प्राधिकारियों की बढ़ती हुई शक्तियों पर नियंत्रण रखने की भी आवश्यकता होती है; क्योंकि इससे अत्यधिक शक्तियों का दुरुपयोग एवं भ्रष्टाचार का उदय होता है। प्रशासनिक विधि प्रशासन की निरंकुशता तथा एकाधिकार पर नियंत्रण के तरीकों पर बल देती है। इसीलिए इसका महत्व बढ़ गया है।

प्रशासनिक विधि एक न्यायोचित प्रशासनिक प्रक्रिया पर बल देती है जिससे प्रशासन का मनमानापन कम हो सके। वह प्रशासकीय विवेकाधिकार को विधि शासन से स्थानापन करवाती है। इसलिए भी इसका महत्व बढ़ गया है।

आधुनिक युग में अनेक प्रशासनिक न्यायाधिकरण; जैसे—उद्योग, श्रम, आयकर, मुआवजा आदि से संबंध स्थापित किये गये हैं, जिसका उद्देश्य तकनीकी प्रकृति के विवादों का समुचित ढंग से निर्णय करना है। इस प्रकार की स्थिति में प्रशासन के न्यायिक अधिकारों में पर्याप्त वृद्धि हुई है। प्रशासनिक विधि इसी प्रकार के अधिकारों की विधि के अनुसार प्रयोग किए जाने पर बल देती है। यही कारण है कि प्रशासनिक विधि बीसवीं शताब्दी का एक बहुत ही महत्वपूर्ण विषय हो गयी है।

भारत में प्रशासनिक विधि के स्त्रोत

स्वतंत्रता के बाद एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना हेतु संविधान में आवश्यक प्रावधान बनाये गये हैं। संविधान के अनुच्छेद 38 में राज्य का यह दायित्व बताया गया है कि वह जन-कल्याण को बढ़ावा देने के लिये एक सामाजिक व्यवस्था को कायम करे जिसमें सभी व्यक्तियों को आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक न्याय प्राप्त हो सके। पुन: अनुच्छेद 39 के अंतर्गत राज्य को अपनी नीति इस प्रकार कार्यांवित करने का निर्देश दिया गया है कि सभी नागरिकों को पर्याप्त जीवित का मिल सके तथा आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण की व्यवस्था इस प्रकार हो जो जनसामान्य के हित में हो, धन-संपत्ति का केंद्रीकरण न हो सके तथा समान श्रम के लिये समान वेतन मिल सके। संविधान के अतिरिक्त भारतीय न्यायपालिका ने भी समय-समय पर विधि एवं संविधान के निर्वाचन में सामाजिक कल्याणकारी राज्य के आदर्श को ही ध्यान में रखकर निर्णय दिया है। सरकार के इन्हीं बढ़े हुए कार्यों एवं अधिकारों के संबंध में प्रशासनिक विधि का उदभव एवं विकास हुआ।

इस प्रकार प्रशासनिक विधि के स्त्रोत को ढूँढ़ने पर हम इसके दो प्रमुख स्त्रोत पाते हैं—

(i) संविधान तथा **(ii) परिनियम**

(i) संविधान—किसी भी देश का संविधान यह निर्धारित करता है कि प्रशासनिक विधि का स्वरूप किस प्रकार हो और उसको किस ढंग से अपनाया जाए। इस संदर्भ में भारतीय संविधान के अंतर्गत अनेक प्रशासनिक नियमों की स्थापना की गई। इसके अतिरिक्त संविधान के अंतर्गत ऐसे अनेक उपबंध प्रदान किये गये हैं जिनमें प्रशासनिक अधिकारियों की शक्तियों तथा अधिकारों के नियंत्रण के उपाय बताये गये हैं। जैसे, संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन संविधान द्वारा गारंटी किये गये किसी मौलिक अधिकार के अतिक्रमण होने की स्थिति में यदि ऐसा अतिक्रमण किसी प्रशासकीय आदेश द्वारा होता है तो उच्चतम न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 32 के अधीन प्रशासनिक आदेश अथवा कार्य को निरस्त कर दिया जायेगा। इसी प्रकार राज्यो के उच्च न्यायालयों को भी मूल अधिकारों के अतिक्रमण की स्थिति में प्रशासकीय कार्यों एवं आदेशों को निरस्त करने का अधिकार संविधान के अनुच्छेद 226 में प्रदान किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 299 एवं 300 के अंतर्गत सरकार के विरुद्ध उसके अधिकाारियों द्वारा किये गये किसी अपकृत्य अथवा संविदा भंग के लिए क्षतिपूर्ति के दावा का प्रावधान बनाया गया है। इसी प्रकार सरकारी कर्मचारी के संबंध में उनकी सेवा संबंधी शर्तों एवं दायित्वों के संबंध में अनुच्छेद 310 एवं 311 के अंतर्गत उपबंध प्रदान किया गया है। इस प्रकार संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों से यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट होती है कि भारतीय प्रशासनिक विधि का स्त्रोत संविधान है।

(ii) परिनियम—'परिनियम विधि' प्रशासनिक विधि का दूसरा प्रमुख स्त्रोत है। यह पद विधायिका द्वारा पास किये गये नियमों तथा प्रत्यायुक्त विधान दोनों को सम्मिलित करता है। इन परिनियमों के अंतर्गत प्रशासनिक निकायों के सृजन एवं उनके अधिकारों तथा दायित्वों का उल्लेख रहता है। आधुनिक युग में प्रशासनिक अधिकारियों के बहुत सारे अधिकार एवं दायित्व परिनियमों के ही परिणामस्वरूप हैं। परिनियम मुख्यत: संसद तथा राज्य विधान मंडलों द्वारा पास किये जाते हैं। प्रत्यायुक्त विधान के माध्यम से भी प्रशासनिक अधिकारियों के अधिकार एवं कर्तव्य का उल्लेख किया जाता है। इस प्रकार परिनियम प्रशासनिक विधि के प्रमुख स्त्रोतों में से एक है।

ड्राट एडमिनिस्ट्रेटिव—नेपोलियन बोनापार्ट को ड्राट एडमिनिस्ट्रेटिव का संस्थापक कहा जाता है। उन्होंने अनेक प्रशासनिक न्यायालयों की स्थापना की थी और पुन: एक अध्यादेश जारी किया जिसके अनुसार सामान्य न्यायालयों को प्रशासनिक मामलों में हस्तक्षेप करने से वंचित कर दिया गया था।

डायलो ड्राट एडमिनिस्ट्रेटिव के विरुद्ध थे। उनका मत था कि यह विधि शासन के विरुद्ध है परंतु अंतिम काल में उन्होंने इस पर पुन: गंभीरता से विचार किया था और अपनी राय कुछ सीमा तक बदल दी

थी। परंतु **प्रो० गारनक** का यह मत था कि ड्राट एडमिनिस्ट्रेटिव विधि शासन के विरुद्ध नहीं है। भारत की पृष्ठभूमि में अगर इसे देखा जाए तो यह विधि शासन के विरुद्ध नहीं है; क्योंकि भारत में उच्च न्यायालय एवं उच्चतम न्यायालय को पुनरीक्षण (Review) का अधिकार दिया गया है जिसके अंतर्गत प्रशासनिक विधि को रखा गया है। अत: यह व्यवस्था विधि शासन के विरुद्ध नहीं है।

संवैधानिक विधि एवं प्रशासनिक विधि में अंतर

प्रशासनिक विधि एवं संवैधानिक विधि दोनों का संबंध सरकार के कार्यों से है। ये दोनों ही राज्य की मूल विधियाँ हैं। दोनों को आधुनिक राज्य की लोक विधि का भाग समझा जा सकता है। **फिलिप्स** के अनुसार, संवैधानिक विधि का संबंध सरकार के संगठन तथा कार्यों से है, जो लोक प्राधिकारियों की शक्तियों को शासित करती है। अत: यह कहा जा सकता है कि संवैधानिक विधि उस ढाँचे तथा उन नियमों के बारे में होती है जो कार्य को नियमित करती है, जबकि प्रशासनिक विधि उस कार्य के विवरण के बारे में चर्चा करती है।

संवैधानिक विधि तथा प्रशासनिक विधि दोनों ही राज्य की मूल विधि है अर्थात् दोनों ही विधि के पृथक-पृथक भाग हैं। अत: दोनों में अंतर सुविधा का है न कि तर्क का। इन दोनों के अंतर को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है—

1. संवैधानिक विधि द्वारा राज्य के विभिन्न अंगों का निर्माण किया जाता है, जबकि प्रशासनिक विधि किसी प्रकार के अंगों को निर्मित नहीं करती हैं।

2. संविधान राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से प्रभावित होता है तथा राज्य के विशेषाधिकारों को निर्मित करता है, जबकि प्रशासनिक विधि केवल राष्ट्रीय नीतियों से प्रभावित होती है। यह किसी विशेषाधिकार का निर्माण नहीं करती और न ही इनकी अवहेलना ही कर सकती है।

3. कार्यपालिका, न्यायपालिका तथा व्यवस्थापिका का निर्माण संवैधानिक विधि द्वारा होता है; जबकि प्रशासनिक विधि द्वारा ऐसा कोई निर्माण नहीं होता है।

4. संवैधानिक विधि के द्वारा कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका के अधिकारों और कर्तव्यों का निर्माण होता है; जबकि प्रशासनिक विधि के द्वारा मात्र कार्यकारिणी के अधिकारों एवं कर्तव्यों का विकास एवं नियंत्रण संविधान के प्रावधान के अनुसार किया जाता है।

5. संवैधानिक विधि संविधान में उल्लिखित आदेशों की प्राप्ति हेतु हर संभव प्रयास करती है, जबकि प्रशासनिक विधि स्वयं आदेशों का निवारण नहीं करती; बल्कि उन्हें साकार रूप देने में सहायक होती है।

6. संवैधानिक विधि राज्य तथा उसके नागरिक के मूल संबंधों का निर्धारण करती है, जबकि प्रशासी विधि संविधान द्वारा प्रदत्त संबंधों को संरक्षण प्रदान करती है।

प्रशासनिक विधि एवं विधि शासन में अंतर

कभी-कभी यह कहा जाता है कि विधि शासन प्रशासनिक विधि के विरोध में है और उसने प्रशासनिक विधि की मान्यता को बाधित किया है। परंतु दोनों एक दूसरे के विरोध में नहीं बल्कि एक समान उद्देश्य की प्राप्ति में समानांतर रूप से गतिशील है।

प्रशासनिक विधि प्रशासन से संबंध रखने वाली विधि है। यह प्रशासनिक अधिकारों के संगठन शक्तियों और कर्तव्यों को निश्चित करती है। आधुनिक समाज में राज्य अब हर एक क्षेत्र में हस्तक्षेप करने लगा है। समाज कल्याण के लिए अब नई-नई योजनाएँ अपनायी जा रही हैं। इन योजनाओं की पूर्ति का भार कार्यकारणी को सौंप दिया गया है जिस कारण कार्यपालिका की शक्ति में काफी बढ़ोतरी हो गई है। प्रशासनिक विधि का यह उद्देश्य है कि प्रशासन को एक सीमा के अंदर रखा जाए जिससे प्रशासनिक

न्याय क्षेत्र, पूर्ववर्ती न्यायालय से ज्यादा व्यापक है। उच्चतम न्यायालय ने ब्रिटेन के 'प्रिवी काउंसिल' का स्थान ग्रहण किया था, जो अब तक अपील का सर्वोच्च न्यायालय था।

भारतीय संविधान के भाग V में अनुच्छेद 124 से 147 तक, उच्चतम न्यायालय के गठन, स्वतंत्रता, न्याय क्षेत्र, शक्तियाँ, प्रक्रिया आदि का उल्लेख है। संसद भी उनके विनियमन के लिए अधिकृत है।

उच्चतम न्यायालय का गठन

इस समय उच्चतम न्यायालय में 31 न्यायाधीश (एक मुख्य न्यायाधीश एवं 30 अन्य न्यायाधीश) हैं। फरवरी, 2009 में केंद्र सरकार ने उच्चतम न्यायालय के कुल न्यायाधीशों की संख्या 26 से बढ़ाकर 31 कर दी है, जिसमें मुख्य न्यायाधीश भी शामिल हैं। यह वृद्धि उच्चतम न्यायालय (न्यायाधीशों की संख्या) संशोधन अधिनियम, 2008 के अंतर्गत की गयी है। मूलत: उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या 8 (एक मुख्य न्यायाधीश और 7 अन्य न्यायाधीश) निश्चित थी। 1956 में संसद ने अन्य न्यायाधीशों की संख्या 10 निश्चित की। 1960 में 13, फिर 1977 में 17 ओर फिर 1986 में 25।

न्यायाधीश

न्यायाधीशों की नियुक्ति—उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति अन्य न्यायाधीशों एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की सलाह के बाद करता है। इसी तरह अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति भी होती है। मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति में मुख्य न्यायाधीश का परामर्श आवश्यक है।

परामर्श पर विवाद—उपरोक्त उपबंध में 'परामर्श' शबद की उच्चतम न्यायालय द्वारा विभिन्न व्याख्याएँ दी गई हैं। प्रथम न्यायाधीश मामले (1982) में न्यायालय ने कहा कि परामर्श का मतलब सहमति नहीं, वरन् विचारों का आदान-प्रदान है। लेकिन द्वितीय न्यायाधीश मामले (1993) में न्यायालय ने अपने पूर्व के फैसले को परिवर्तित किया और कहा कि परामर्श का मतलब सहमति प्रकट करता है। इस तरह यह व्यवस्था दी गई कि न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश द्वारा दी गई सलाह, राष्ट्रपति को मानना बाध्यता होगी लेकिन मुख्य न्यायाधीश यह सलाह अपने दो वरिष्ठतम सहयोगियों से विचार-विमर्श करने के बाद देगा। इसी तरह तीसरे न्यायाधीश मामले (1998) में न्यायालय ने मत दिया कि परामर्श प्रक्रिया को मुख्य न्यायाधीश द्वारा 'बहुसंख्यक न्यायाधीशों की विचार' प्रक्रिया के तहत माना जाएगा। केवल भारत के मुख्य न्यायाधीश का एकल मत ही परामर्श प्रक्रिया को पूर्ण नहीं करता। उसे चार वरिष्ठतम न्यायाधीशों से सलाह करनी चाहिए, इनमें से अगर दो का मत भी पक्ष में नहीं तो वह नियुक्ति के लिए सिफारिश नहीं भेज सकता। न्यायालय ने व्यवस्था दी कि बिना अन्य न्यायाधीशों की सलाह के भेजी गई सिफारिश को मानने के लिए सरकार बाध्य नहीं है।

मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति—1950 से 1973 तक व्यवहार में यह था कि उच्चतम न्यायालय में वरिष्ठतम न्यायाधीश को बतौर मुख्य न्यायाधीश नियुक्ति किया जाता था। इस व्यवस्था का 1973 में तब हनन हुआ जब ए०एन० राय को तीन वरिष्ठतम न्यायाधीशों से ऊपर भारत का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त कर दिया गया। दोबारा 1977 में एम० यू० बेग को वरिष्ठतम व्यक्ति के ऊपर बतौर मुख्य न्यायाधीश बना दिया गया। सरकार के इस निर्णय की स्वतंत्रता को उच्चतम न्यायालय ने दूसरे न्यायाधीश मामले (1993) में कम किया। इसमें उच्चतम न्यायालय ने व्यवस्था दी कि उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश को ही भारत का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया जाना चाहिए।

न्यायाधीशों की अर्हताएँ—उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश बनने के लिए किसी व्यक्ति में निम्नलिखित अर्हताएँ होनी चाहिए।

1. उसे भारत का नागरिक होना चाहिए।

2. (अ) उसे किसी उच्च न्यायालय का कम-से-कम पाँच साल के लिए न्यायाधीश होना चाहिए, या (ब) उसे उच्च न्यायालय या विभिन्न न्यायालयों में मिलाकर 10 वर्ष तक वकील होना चाहिए, या (स) राष्ट्रपति के मत में उसे सम्मानित न्यायवादी होना चाहिए।

उपरोक्त से यह स्पष्ट है कि संविधान में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति के लिए न्यूनतम आयु का उल्लेख नहीं है।

शपथ या प्रतिज्ञा—उच्चतम न्यायालय के लिए नियुक्त न्यायाधीश को अपना कार्यकाल संभालने से पूर्व राष्ट्रपति या इस कार्य के लिए उसके द्वारा नियुक्त व्यक्ति के सामने निम्नलिखित शपथ लेनी होगी कि मैं—

1. भारत के संविधान के प्रति सच्ची श्रद्धा और निष्ठा रखूँगा।

2. भारत की प्रभुता एवं अखंडता को अक्षुण्ण रखूँगा।

3. अपनी पूरी योग्यता ज्ञान और विवेक से अपने पद के कर्तव्यों का भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना पालन करूँगा।

4. संविधान और विधियों की मर्यादा बनाए रखूँगा।

न्यायाधीशों का कार्यकाल—संविधान में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों का कार्यकाल तय नहीं किया गया हालांकि इस संबंध में निम्नलिखित तीन उपबंध बनाए गए हैं—

1. वह 65 वर्ष की आयु तक पद पर बना रह सकता है। उसके मामले में किसी प्रश्न के उठने पर संसद द्वारा स्थापित संस्था इसका निर्धारण करेगी।

2. वह राष्ट्रपति को लिखित तयागपत्र दे सकता है।

3. संसद की सिफारिश पर राष्ट्रपति द्वारा उसे पद से हटाया जा सकता है।

न्याधीशों को हटाना—राष्ट्रपति के आदेश द्वारा उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को उसके पद से हटाया जा सकता है। राष्ट्रपति ऐसा तभी कर सकता है, जब इस प्रकार हटाए जाने हेतु संसद द्वारा उसी सत्र में ऐसा संबोधन किया गया हो। इस आदेश को संसद के दोनों सदनों के विशेष बहुमत (यानि सदन की कुल सदस्यता का बहुमत तथा सदन के उपस्थित एवं मत देने वाले सदस्यों का दो-तिहाई) का समर्थन प्राप्त होना चाहिए। उसे हटाने का आधार उसका दुर्व्यवहार या सिद्ध कदाचार होना चाहिए।

न्यायाधीश जाँच अधिनियम (1968) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को हटाने के संबंध में महाभियोग की प्रक्रिया का उपबंध करता है—

1. निष्कासन प्रस्ताव 100 सदस्यों (लोकसभा के मामले में) या 50 सदस्यों (राज्यसभा के मामले में) द्वारा हस्ताक्षर करने के बाद अध्यक्ष/सभापित को दिया जाना चाहिए।

2. अध्यक्ष/सभापति इस प्रस्ताव को शामिल भी कर सकते हैं या इसे अस्वीकार भी कर सकते हैं।

3. यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए तो अध्यक्ष/सभापति को इसकी जाँच के लिए तीन सदस्यीय समिति गठित करनी होगी।

4. समिति में शामिल होना चाहिए—(अ) मुख्य न्यायाधीश या उच्चतम न्यायालय का कोई न्यायाधीश, (ब) किसी उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश, और (स) प्रतिष्ठित न्यायवादी।

5. यदि समिति न्यायाधीश को दुर्व्यवहार का दोषी या असक्षम पाती है तो सदन इस प्रस्ताव पर विचार कर सकता है।

6. विशेष बहुमत से दोनों सदनों में प्रस्ताव पारित कर इसे राष्ट्रपति को भेजा जाता है।

7. अंत में राष्ट्रपति न्यायाधीश को हटाने का आदेश जारी कर देते हैं।

यह रोचक है कि उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश पर अब तक महाभियोग नहीं लगाया गया है। पहला एवं एकमात्र महाभियोग का मामला उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश वी० रामास्वामी (1991-1993) का है, यद्यपि जाँच समिति ने उन्हें दुर्व्यवहार का दोषी पाया पर उन पर महाभियोग नहीं लगाया जा सका क्योंकि यह लोकसभा में पारित नहीं हो सका। कांग्रेस पार्टी मतदान से अलग हो गई।

वेतन एवं भत्ते—उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को वेतन, भत्ते, विशेषाधिकार, अवकाश एवं पेंशन का निर्धारण समय-समय पर संसद द्वारा किया जाता है। वित्तीय आपातकाल के दौरान इनको कम किया जा सकता है। 2009 में मुख्य न्यायाधीश का वेतन प्रतिमाह 33,000 रुपये से बढ़ाकर 1 लाख रुपये प्रतिमाह और अन्य न्यायाधीशों का वेतन 30,000 प्रतिमाह से बढ़ाकर 90 हजार रुपये प्रतिमाह कर दिया गया है। इसके अलावा उन्हें अन्य भत्ते भी दिये जाते हैं। उन्हें नि:शुल्क आवास और अन्य सुविधायें जैसे—चिकित्सा, कार, टेलीफोन आदि भी मिलती हैं।

सेवानिवृत्त मुख्य न्यायाधीश एवं अन्य न्यायाधीशों की पेंशन उनके अंतिम माह के वेतन का पचास प्रतिशत निर्धारित है।

कार्यकारी मुख्य न्यायाधीश

राष्ट्रपति किसी न्यायाधीश को भारत के उच्चतम न्यायालय का कार्यकारी मुख्य न्यायाधीश नियुक्त कर सकता है जब—

1. मुख्य न्यायाधीश का पद रिक्त हो,
2. अस्थायी रूप से मुख्य न्यायाधीश अनुपस्थित हो,
3. मुख्य न्यायाधीश अपने दायित्वों के निर्वहन में असमर्थ हो।

तदर्थ न्यायाधीश

जब कभी कोरम पूरा करने में स्थायी न्यायाधीशों की संख्या कम हो रही हो तो भारत का मुख्य न्यायाधीश किसी उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को अस्थायी काल के लिए उच्चतम न्यायालय में तदर्थ न्यायाधीश नियुक्त कर सकता है। ऐसा वह संबंधित उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के परामर्श एवं राष्ट्रपति की पूर्ण मंजूरी के बाद ही कर सकता है। इस पद पर नियुक्त व्यक्ति के पास उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की अर्हताएँ होनी चाहिए। तदर्थ न्यायाधीश के पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति को अन्य दायित्वों की तुलना उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के दायित्वों को ज्यादा वरीयता देनी होगी। इस दौरान उसी उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की न्याय निर्णयन, शक्तियों और विशेषाधिकार प्राप्त होंगे।

सेवानिवृत्त न्यायाधीश

किसी भी समय भारत का मुख्य न्यायाधीश उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय के सेवानिवृत्त न्यायाधीश से अल्पकाल के लिए उच्चतम न्यायालय में कार्य करने का अनुरोध कर सकता है। ऐसा संबंधित व्यक्ति एवं राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति के ही द्वारा किया जा सकता है। ऐसा न्यायाधीश राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित भत्तों का उपयोग करने योग्य होता है। वह उच्चतम न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों की तरह न्यायानिर्णयन, शक्तियों और विशेषाधिकारों का अधिकारी होगा, परंतु वह उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नहीं माना जाएगा।

उच्चतम न्यायालय का स्थान

संविधान ने उच्चतम न्यायालय का स्थान दिल्ली घोषित किया। लेकिन मुख्य न्यायाधीश को यह अधिकार है कि उच्चतम न्यायालय का स्थान कहीं और नियुक्त करे लेकिन ऐसा निर्णय वह राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति के बाद ही ले सकता है। यह व्यवस्था वैकल्पिक है न कि अनिवार्य। इसका अर्थ यह है कि

कोई भी न्यायालय न तो राष्ट्रपति और न ही मुख्य न्यायाधीश को यह निर्देश दे सकता है कि उच्चतम न्यायालय की पीठ कहीं ओर स्थापित की जाये।

न्यायालय की प्रक्रिया

उच्चतम न्यायालय राष्ट्रपति की मंजूरी के बाद न्यायालय की प्रक्रिया और संचालन हेतु नियम बना सकता है। संवैधानिक मामलों एवं संदर्भों को राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 143 के तहत बनाया जाता है और न्यायाधीशों की पीठ (पाँच न्यायाधीशों) द्वारा निर्णीत किया जाता है। अन्य मामलों का निर्णय सामान्यतया तीन न्यायाधीशों की पीठ करती है। फैसले खुले न्यायालय द्वारा जारी किए जाते हैं। सभी निर्णय बहुमत से लिये जाते हैं लेकिन मतभिन्नता हो तो न्यायाधीश इस असहमति का कारण बता सकता है।

उच्चतम न्यायालय की स्वतंत्रता

भारतीय लोकतांत्रिक एवं राजपद्धति में उच्चतम न्यायालय को बहुत महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की गई है। यह संघीय न्यायालय, याचिका के लिए सर्वोच्च न्यायालय, नागरिकों के मूल अधिकारों का गारंटर और संविधान का अभिभावक है। इस तरह इसे प्रदत्त कार्य करने के लिए प्रभावी स्वतंत्रता और अधिकार काफी अहम हैं। यह अतिक्रमण, दबाव और हस्तक्षेप (कार्यकारिणी की मंत्रिपरिषद् एवं संसद के विधानमंडल) से स्वतंत्र होना चाहिए। इसे बिना डर या पक्षपात के न्याय देने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।

संविधान ने उच्चतम न्यायालय की स्वतंत्रता और निष्पक्ष कार्यकरण सुनिश्चित करने के लिए निम्नलिखित उपबंध किए हैं—

1. नियुक्ति का तरीका—उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति (यानी कैबिनेट) न्यायिक सदस्यों (अर्थात् उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश) की सलाह से करता है। यह व्यवस्था कार्यकारिणी के पक्षपात में कटौती करती है एवं सुनिश्चित करती है कि न्यायिक नियुक्ति राजनीति पर आधारित नहीं है।

2. कार्यकाल की सुरक्षा— उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को कार्यकाल की सुरक्षा प्रदान की जाती है। उन्हें संविधान में उल्लिखित प्रावधानों के जरिये सिर्फ राष्ट्रपति हटा सकता है। इसका तात्पर्य है कि यद्यपि उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है, लेकिन उनका कार्यकाल उसकी दया पर निर्भर नहीं है। यह इससे भी स्पष्ट होता है कि अब तक उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश को हटाया (या अभियोग) नहीं गया है।

3. निश्चित सेवा शर्तें—उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते, अवकाश, विशेषाधिकार, पेंशन का निर्धारण समय-समय पर संसद द्वारा किया जाता है। इन्हें इनके लिए प्रतिकूल ढंग से निर्मित नहीं किया जा सकता सिवाय वित्तीय आपातकाल के दौरान। इस तरह उनको प्राप्त सुविधाएँ पूरे कार्यकाल तक रहती हैं।

4. संचित निधि से व्यय—उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन एवं कार्यालयीन व्यय, भत्ते एवं पेंशन एवं अन्य प्रशासनिक खर्च संचित निधि पर भारित होते हैं। अत: संसद द्वारा इन पर मतदान नहीं किया जा सकता (यद्यपि चर्चा की जा सकती है)।

5. न्यायाधीशों के आचरण पर बहस नहीं हो सकती—महाभियोग के अतिरिक्त संविधान में न्यायाधीशों के आचरण पर संसद में या राज्य विधानमंडल में बहस पर प्रतिबंध लगाया गया है।

6. सेवानिवृत्ति के बाद वकालत पर रोक—सेवानिवृत्त न्यायाधीशों को भारत में कहीं भी किसी न्यायालय या प्राधिकरण में कार्य करने की स्वतंत्रता नहीं है। ऐसा यह सुनिश्चित करेनके लिए किया गया है कि वह निर्णय देते समय भविष्य का ध्यान न रखे।

7. अपनी अवमानना पर दंड देने की शक्ति—उच्चतम न्यायालय उस व्यक्ति को दंडित कर सकता है जो उसकी अवमानना करे। इसका तात्पर्य है कि इसके कार्यों एवं फैसलों की किसी इकाई द्वारा आलोचना नहीं की जा सकती। यह शक्ति उच्चतम न्यायालय को प्राप्त है कि वह अपने प्राधिकरण मर्यादा और प्रतिष्ठा को बनाए रखे।

8. अपना स्टॉफ नियुक्त करने की स्वतंत्रता—भारत के मुख्य न्यायाधीश को बिना कार्यकारी के हस्तक्षेप के अधिकारियों एवं कर्मचारियों को नियुक्त करने का अधिकार है। वह उनकी सेवा शर्तों को भी तय कर सकता है।

9. इसके न्याय क्षेत्र में कटौती नहीं की जा सकती—संसद को उच्चतम न्यायालय के न्याय क्षेत्र एवं शक्तियों में कटौती का अधिकार नहीं है। संविधान में इसके न्याय क्षेत्र एवं विभिन्न कार्यों का उल्लेख है हालांकि संसद इसमें वृद्धि कर सकती है।

10. कार्यपालिका से पृथक—संविधान निर्देश देता है कि राज्य लोक-सेवाओं के क्रियांवयन के मसले पर कार्यपालिका को न्यायपालिका से अलग करें। इसका मतलब कार्यकारिणी को न्यायिक शक्तियों को रखने का अधिकार नहीं है। तदनुसार इसके कार्यांवयन के उपरांत कार्यकारी प्राधिकारियों की न्यायिक प्रशासन में भूमिका समाप्त हो गई।

2.5. उच्चतम न्यायालय की शक्तियाँ एवं क्षेत्राधिकार

(Power and Jurisdiction of Supreme Court)

संविधान में उच्चतम न्यायालय की व्यापक शक्तियों एवं क्षेत्राधिकार को उल्लिखित किया गया है। अमेरिकी उच्चतम न्यायालय की तरह यह न केवल संघीय न्यायालय है, बल्कि ब्रिटिश हाउस ऑफ लॉर्ड्स (ब्रिटिश संसद के उच्च सदन) की तरह अपील का अंतिम न्यायालय है, बल्कि यह संविधान और भारत के नागरिकों के अधिकारों का व्याख्याता एवं गारंटर भी है। इसके अलावा यह परामर्शदात्री एवं सर्वोच्च शक्ति है। इसीलिए संविधान की प्रारूप समिति के सदस्य अल्लादि कृष्ण अय्यर ने कहा था कि भारत के उच्चतम न्यायालय को विश्व के किसी अन्य सर्वोच्च न्यायालय की तुलना में ज्यादा शक्तियाँ प्राप्त हैं। उच्चतम न्यायालय की शक्ति एवं न्याय क्षेत्रों को निम्नलिखित तरह से वर्गीकृत किया जा सकता है—

1. मूल क्षेत्राधिकार
2. न्यायादेश क्षेत्राधिकार
3. अपीलीय क्षेत्राधिकार
4. सलाहकार क्षेत्राधिकार
5. अभिलेखों का न्यायालय
6. न्यायिक समीक्षा की शक्ति
7. अन्य शक्तियाँ

मूल क्षेत्राधिकार

उच्चतम न्यायालय भारत के संघीय ढाँचे की विभिन्न इकाइयों के बीच किसी विवाद पर संघीय न्यायालय की तरह निर्णय देता है। किसी भी विवाद को जो—

(i) केंद्र व एक या अधिक राज्यों के बीच हों, या

(ii) केंद्र और कोई राज्य या राज्यों का एक तरफ होना एवं एक या अधिक राज्यों का दूसरी तरफ होना, या

उद्देश्य से नहीं; जबकि दूसरी तरफ उच्च न्यायालय न केवल मूल अधिकारों के लिए न्यायादेश जारी कर सकता है बल्कि अन्य उद्देश्यों के लिए भी इसे जारी कर सकता है। इसका अभिप्राय है कि न्यायादेश न्यायक्षेत्र के मसले पर उच्च न्यायालय का क्षेत्र ज्यादा विस्तृत है। लेकिन संसद उच्चतम न्यायालय को अन्य उद्देश्यों के लिए न्यायादेश की शक्ति प्रदान कर सकती है।

3. अपीलीय क्षेत्राधिकार

जैसा कि पूर्व में बताया गया है कि उच्चतम न्यायालय न केवल भारत के संघीय न्यायालय के उत्तराधिकारी की तरह है बल्कि यह ब्रिटिश प्रिवी कौंसिल के स्थान पर स्थानांतरित है जो अपीलीय का उच्चतम न्यायालय है। उच्चतम न्यायालय निचली अदालतों के फैसलों के खिलाफ सुनवाई करता है। इसके अपीलीय न्यायक्षेत्र को निम्नलिखित चार शीर्षों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

(i) संवैधानिक मामलों में अपील,

(ii) दीवानी मामलों में अपील,

(iii) आपराधिक मामलों में अपील,

(iv) विशेष अनुमति द्वारा अपील।

(i) संवैधानिक मामले—संवैधानिक मामलों में उच्चतम न्यायालय में उच्च न्यायालय के फैसले के खिलाफ अपील की जा सकती है। यदि उच्च न्यायालय इसे प्रभावित करे कि मामले में विधि का पूरक प्रश्न निहित है जिसमें संविधान की व्याख्या निहित है, अनुचित फैसले के आधार पर उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है।

(ii) दीवानी मामले—दीवानी मामलों के तहत उच्चतम न्यायालय में किसी भी मामले को लाया जा सकता है यदि उच्च न्यायालय प्रमाणित कर दें—

(क) मामला सामान्य महत्व के पूरक प्रश्न पर आधारित है।

(ख) ऐसा प्रश्न है जिसका निर्णय उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाना आवश्यक है।

मूलत: 20,000 रुपये तक के दीवानी मामले ही उच्चतम न्यायालय के समक्ष लाए जा सकते थे लेकिन इस धन संबंधी सीमा को 30वें संवैधानिक संशोधन अधिनियम 1972 द्वारा हटा दिया गया।

(iii) आपराधिक मामले—उच्चतम न्यायालय उच्च न्यायालय के आपराधिक मामलों के फैसलों के खिलाफ सुनवाई करता है यदि उच्च न्यायालय ने—

(क) आरोपी व्यक्ति के दोषमोचन के आदेश को पलट दिया हो और उसे सजा-ए-मौत दी हो।

(ख) किसी अधीनसथ न्यायालय से मामला लेकर आरोपी व्यक्ति को दोषसिद्ध किया हो, उसे सजा-ए-मौत दी हो।

(ग) यह प्रमाणित करे कि संबंधित मामला उच्चतम न्यायालय में ले जाने योग्य है।

पहले दोनों मामलों में उच्चतम न्यायालय में अपील अधिकार स्वरूप आती है (अर्थात् उच्च न्यायालय के किसी प्रमाण पत्र के बिना) परंतु यदि उच्च न्यायालय ने बंदीकरण के आदेश को पलटकर आरोपी को दोषमुक्त करने का आदेश दिया हो तो उच्चतम न्यायालय में अपील का कोई अधिकार नहीं होगा।

1970 में संसद ने उच्चतम न्यायालय के आपराधिक अपीलीय न्यायक्षेत्र में विस्तार किया। उच्च न्यायालय के किसी फैसले पर अपील हो सकता है यदि उच्च न्यायालय ने—

(अ) किसी अपील में आरोपी व्यक्ति को दोषमुक्त किया हो और उसे उम्रकैद या दस वर्ष की सजा सुनाई गई हो।

(ब) स्वयं किसी मामले को किसी अधीनस्थ न्यायालय से लिया हो ओर आरोपी व्यक्ति को उम्रकैद या दस साल की सजा सुनाई गई हो। इस तरह उच्चतम न्यायालय का अपीलीय न्यायक्षेत्र सभी दीवानी एवं आपराधिक मामलों में विस्तारित हैं। जहाँ भारत के संघीय न्यायालय को उच्च न्यायालय से अपीलों पर क्षेत्राधिकार था परंतु जो उपरोक्त वर्णित उच्चतम न्यायालय के सिविल और आपराधिक अपीलीय क्षेत्राधिकार के अंतर्गत न आता हो।

(iv) विशेष अनुमति द्वारा अपील—उच्चतम न्यायालय को इस बात का अधिकार है कि अपना मत विशेष अनुमति प्राप्त अपील को दे जोकि किसी भी फैसले से संबंधित मामले से जुड़ी हो। फैसला किसी न्यायालय या पंचाटों से संबंधित (सिवा सैन्य अदालतों के) हों। इस व्यवस्था में निम्नलिखित चार बिंदु हैं—

(a) यह एक विवेकानुसार शक्ति है और इसलिए इसका अधिकार के रूप में दावा नहीं किया जा सकता है।

(b) किसी भी फैसले में इसका मत या तो अंतिम होता है या अंतरिम।

(c) वह किसी भी मामले से संबंधित हो सकता है—संवैधानिक, दीवानी, आपराधिक, आयकर, श्रम, राजस्व, वकील आदि।

(d) इसे किसी भी न्यायालय या पंचाट के खिलाफ किया जा सकता है, केवल उच्च न्यायालय के खिलाफ ही जरूरी नहीं है (सैन्य न्यायालय को छोड़कर)।

इस तरह इस उपबंध का कार्यक्षेत्र काफी व्यापक है और इसकी पूर्ण सुनवाई उच्चतम न्यायालय में निहित है। इस शक्ति के उपयोग पर उच्चतम न्यायालय स्वयं 'एक अनोखी और अधिग्रहण शक्ति होने के नाते इसका प्रयोग सावधानी के साथ विशेष परिस्थितियों में ही बिरले रूप में ही करता है। इसके आगे यह संभव नहीं है कि इस शक्ति का प्रयोग किसी भी नियम के तहत करे।'

4. सलाहकार क्षेत्राधिकार

संविधान (अनुच्छेद 143) राष्ट्रपति को दो श्रेणियों के मामलों में उच्चतम न्यायालय से राय लेने का अधिकार होता है—

(अ) सार्वजनिक महत्व के किसी मसले पर विधिक प्रश्न उठने पर।

(ब) किसी पूर्व संवैधानिक संधि, समझौते, प्रसंविदा आदि सनद मामलों पर किसी विवाद के उत्पन्न होने पर।

पहले मामले में उच्चतम न्यायालय अपना मत दे भी सकता है और देने से इनकार भी कर सकता है। दूसरे मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा राष्ट्रपति को अपना मत देना अनिवार्य है। दोनों ही मामलों में उच्चतम न्यायालय का मत सिर्फ सलाह होती है। इस तरह, राट्रपति इसके लिए बाध्य नहीं है कि वह इस सलाह को माने। यद्यपि सरकार अपने द्वारा निर्णय लिए जाने के संबंध में इसके द्वारा प्राधिकृत विधिक सलाह प्राप्त करती है।

अब तक राष्ट्रपति ने उच्चतम न्यायालय से सलाहकार क्षेत्राधिकार के अंतर्गत 14 बार संदर्भ लिए हैं। वे हैं—1951 में दिल्ली लॉ अधिनियम, 1958 में केरल शिक्षा विधेयक, 1960 में बेरुबारी संघ, 1963 में समुद्र सीमा शुल्क अधिनियम, 1964 में विधानमंडल के विशेषाधिकारी से संबंधित केशव सिंह मामले में, 1974 में राष्ट्रपति चुनाव, 1978 में विशेष न्यायालय विधेयक, 1982 में जम्मू एवं कश्मीर पुनर्निर्माण अधिनियम, 1992 में कावेरी जल विवाद पंचाट, 1994 में राज जन्मभूमि मामले में, 1998 में भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा सलाहकार प्रक्रिया को अपनाये जाने संबंधी 2001 में केंद्र और राज्यों द्वारा

प्राकृतिक गैस और तरलीकृत गैस के संबंध में विधायी सक्षमता, 2002 में गुजरात निर्वाचन स्थगित करने में निर्वाचन आयोग के निर्णय की संविधानिक वैधता और 2004 में पंजाब अनुबंध समाप्ति अधिनियम थी।

5. अभिलेख का न्यायालय

अभिलेखों के न्यायालय के रूप में उच्चतम न्यायालय के पास दो शक्तियाँ हैं—

(i) उच्चतम न्यायालय की कार्यवाही एवं उसके फैसले सार्वकालिक अभिलेख व साक्ष्य के रूप में रखे जाएँगे। इन अभिलेखों पर किसी अन्य अदालत में चल रहे मामले के दौरान प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। उन्हें विधिक संदर्भों की तरह स्वीकार किया जाएगा।

(ii) इसके पास न्यायालय की अवमानना पर दंडित करने का अधिकार है। इसमें 6 वर्ष के लिए सामान्य जेल या 2000 रुपये तक अर्थदंड या दोनों शामिल हैं। 1991 में उच्चतम न्यायालय ने व्यवस्था दी कि दंड देने की यह शक्ति न केवल उच्चतम न्यायालय में निहित है बल्कि ऐसा ही अधिकार उच्च न्यायालयों, अधीनस्थ न्यायालयों, पंचाटों को भी प्राप्त है।

न्यायालय की अवमानना सिविल या आपराधिक दोनों प्रकार की हो सकती है। सिविल अवमानना का मतलब है स्वेच्छा से किसी फैसले, आदेश, न्यायादेश की अवहेलना जबकि आपराधिक अपमानना का मतलब किसी ऐसी सामग्री का प्रकाशन और ऐसा कार्य करना—(i) जिसमें न्यायालय की स्थिति को कमतर आंकना या उसको बदनाम करना, या (ii) न्यायिक प्रक्रिया में बाधा पहुँचाना, (iii) न्याय प्रशासन को किसी भी तरीके से रोकना।

हालांकि, किसी मामले का निर्दोष प्रकाशन और उसका वितरण न्यायिक कार्यवाही रिपोर्ट की निष्पक्ष, उचित आलोचना और प्रशासनिक दिशा से इस पर टिप्पणी को न्यायालय की अवमानना में नहीं माना जाता।

6. न्यायिक समीक्षा की शक्ति

उच्चतम न्यायालय में न्यायिक समीक्षा की शक्ति की शक्ति निहित है। इसके तहत वह केंद्र व राज्य दोनों स्तरों पर विधायी व कार्यकारी आदेशों की संविधानिकता की जाँच की जाती है। इन्हें अधिकारातीत पाए जाने पर उन्हें अ-विधिक, असंवैधानिक और अवैध (बालित और शून्य घोषित किया जा सकता है) तदुपरांत इन्हें सरकार द्वारा लागू नहीं किया जा सकता। न्यायिक समीक्षा की आवश्यकता निम्नलिखित के लिए है—

(i) संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धांत को बनाए रखने के लिए।

(ii) संघीय समानता को बनाए रखने (केंद्र एवं राज्यों के बीच संतुलन) के लिए।

(iii) नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा के लिए।

उच्चतम न्यायालय ने न्यायिक समीक्षा की शक्ति का इस्तेमाल विभिन्न मामलों में किया। उदाहरण के लिए गोलकनाथ मामला (1967), बैंक राष्ट्रीयकरण मामला (1978), गुप्त धन निवारण मामला (1971), केशवानंद भारती मामला (1973), मिनर्वा मिल्स मामला (1980) आदि।

यद्यपि संविधान में न्यायिक समीक्षा का प्रयोग कहीं भी नहीं किया गया है अनेक अनुच्छेदों के उपबंध स्पष्ट रूप में संविधान को यह शक्ति प्रदान करते हैं। किसी विधायी प्रक्रिया या कार्यपालक आदेश की संवैधानिक वैधता को उच्चतम न्यायालय में निम्न तीन आधारों पर चुनौती दी जा सकती है—

(अ) यह मूल अधिकारों का उल्लंघन करता हो।

(ब) यह निर्धारित प्राधिकार से बाहर का हो। तथा

(स) यह संवैधानिक उपबंधों का उल्लंघन करता हो।

उक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि भारत में न्यायिक समीक्षा की संभावना अमेरिका की तुलना में कम है। यद्यपि अमेरिकी संविधान में भी न्यायिक समीक्षा का उल्लेख संविधान के किसी उपबंध में नहीं किया गया है। ऐसा इसलिए क्योंकि अमेरिकी संविधान में 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' के विरुद्ध 'विधि की देय प्रक्रिया' है। दोनों में अंतर यह है कि देय प्रक्रिया उच्चतम न्यायालय को नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के क्षेत्र में व्यापक अवसर प्रदान करती है। यह इन अधिकारों का उल्लंघन करने वाली विधियों को न केवल अविधिक होने के वास्तविक आधार पर बल्कि तर्कहीन होने के प्रक्रियात्मक आधार पर अमान्य घोषित कर सकता है। यद्यपि हमारा सर्वोच्च न्यायालय वास्तविक प्रश्न अर्थात् क्या विधि प्राधिकार की शक्तियों में है या नहीं, की ही जाँच कर सकता है। यह तर्कसंगतता, उपयुक्तता या नीति प्रभाव के प्रश्न में नहीं जाता है।

विधिवत प्रक्रिया के नाम पर अमेरिका के उच्चतम न्यायालय की न्यायिक समीक्षा का क्षेत्र विस्तृत है, इसलिए आलोचक इसे 'थर्ड चैंबर', सुपर लेजिस्लेचर, आर्बिटर ऑफ सोशल पार्टी कहते हैं। न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धांत की हमारे सांविधानिक तंत्र में भी मान्यता प्रदान की गई है, परंतु एक निश्चित सीमा तक न ही हम पूरी तरह से ब्रिटिश संसदीय सर्वोच्चता का अनुसरण करते हैं।

हमारे देश में संसद की सार्वभौमिकता पर अनेक सीमायें आरोपित की गयी हैं; जैसे—संविधान का लिखित चरित्र, शक्तियों के विभाजन के साथ संघीय ढांचा, मूल अधिकार एवं न्यायिक समीक्षा इत्यादि। वास्तव में देखा जाये तो भारत में अमेरिका की न्यायिक सर्वोच्चता एवं ब्रिटेन की संसदीय सर्वोच्चता के सिद्धांत का समंवय परिलक्षित होता है।

अन्य शक्तियाँ

उपरोक्त शक्तियों के अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय को कई अन्य शक्तियाँ भी प्राप्त हैं, जैसे—

(i) यह राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति के निर्वाचन के संबंध में किसी प्रकार के विवाद का निपटारा करता है। इस संबंध में यह मूल, विशेष एवं अंतिम व्यवस्थापक है।

(ii) यह संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों के व्यवहार एवं आचरण की जाँच करता है, उस संदर्भ में जिसे राष्ट्रपति द्वारा निर्मित किया गया है। यदि यह उन्हें दुर्व्यवहार का दोषी पाता है तो राष्ट्रपति से उसको हटाने की सिफारिश कर सकता है। उच्चतम न्यायालय द्वारा दी गई इस सलाह को मानने के लिए राष्ट्रपति बाध्य है।

(iii) अपने स्वयं के फैसले की समीक्षा करने की शक्ति इसे है, इस तरह यह अपने पूर्व के फैसले पर अडिग रहने को बाध्य नहीं है और सामुदायिक हितों व न्याय के हित में वह इससे हटकर भी फैसले ले सकता है। संक्षेप में उच्चतम न्यायालय स्वयं सुधार संस्था है। उदाहरण के लिए, केशवानंद भारती मामले (1973) में उच्चतम न्यायालय ने अपने पूर्व के फैसले गोलकनाथ मामले (1967) से हटकर फैसला दिया।

(iv) उच्च न्यायालयों में लंबित पड़े मामलों को यह मंगवा सकता है और उनका निपटारा कर सकता है। यह किसी लंबित मामले या अपील को एक उच्च न्यायालय से दूसरे में स्थानांतरित भी कर सकता है।

(v) इसकी विधियाँ भारत के सभी न्यायालयों के लिए बाध्य होंगी। इसके डिक्री या आदेश पूरे देश में लागू होते हैं। सभी प्राधिकारी (सिविल और न्यायिक) उच्चतम न्यायालय की सहायता में कार्य करते हैं।

(vi) यह संविधान का इकलौता व्याख्याता है। यह संविधान के विभिन्न उपबंधों एवं उसमें निहित तत्वों को अंतिम रूप प्रदान करता है।

(vii) इसे न्यायिक अधीक्षण की शक्ति प्राप्त है और इसका देश के सभी न्यायालयों एवं पंचाटों के क्रियाकलापों पर नियंत्रण है।

उच्चतम न्यायालय के न्याय क्षेत्र एवं शक्तियों को केंद्रीय सूची से संबंधित मामलों को संसद द्वारा विस्तारित किया जा सकता है और इसके न्याय क्षेत्र एवं शक्ति की अन्य मामलों में केंद्र एवं राज्यों के बीच विशेष समझौते के तहत विस्तारित किए जा सकते हैं।

उच्च न्यायालय

संविधान के अनुच्छेद 214 के अनुसार प्रत्येक राज्य में एक उच्च न्यायालय की व्यवस्था की गई है।

- अनुच्छेद 231 के तहत एक उच्च न्यायालय का अधिकार क्षेत्र दो या दो से अधिक राज्यों या संघीय क्षेत्र तक विस्तृत हो सकता है।
- राज्यों में उच्च न्यायालय की स्थापना या इससे संबंधित व्यवस्था में परिवर्तन का अधिकार संसद को प्राप्त है।
- इस समय देश में कुल मिलाकर 21 उच्च न्यायालय कार्यरत है।
- असम उच्च न्यायालय (गुवाहाटी) असम, मणिपुर, मेघालय, नागालैंड, त्रिपुरा, अरुणाचल प्रदेश तथा मिजोरम राज्यों तक अपना क्षेत्राधिकार रखता है।
- मुंबई उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार महाराष्ट्र, गोवा राज्यों तथा दादरा व नगर हवेली व दमन-दीव संघीय क्षेत्रों तक है।
- कोलकाता उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार पश्चिम बंगाल समेत अंडमान निकोबार द्वीपों तक है।
- केरल उच्च न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र केरल राज्य समेत लक्षद्वीप, अमीन द्वीप तथा मिनीकोय तक विस्तृत कर दिया गया है।
- पंजाब एवं हरियाणा उच्च न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र पंजाब, हरियाणा व संघीय क्षेत्र चंड़ीगढ़ तक है।

उच्च न्यायालय का संगठन

- प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश व अन्य कुछ न्यायाधीश होंगे, जिनकी संख्या निश्चित करने का अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त है।
- उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति ऐसी चयन समिति के परामर्श से करेंगे, जिसमें भारत के मुख्य न्यायाधीश और उनके दो सबसे वरिष्ठ सहयोगी होंगे।
- वे उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश और 'संबंधित न्यायालय के मामलों से वाकिफ' सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के विचारों के आधार पर फैसला करेंगे।
- 'परामर्श' शब्दावली से तात्पर्य 'पूर्ण और प्रभावी' परामर्श से है और इसके लिए यह आवश्यक है कि चयन समिति के समक्ष सभी आवश्यक सामग्री और तथ्य रखे जाएँ, जिनके आधार पर वह राष्ट्रपति को अपनी राय दे सकें।
- राष्ट्रपति को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की सलाह से भारत के किसी अन्य उच्च न्यायालय में काम करेनके लिए स्थानांतरित कर सकता है।

अवर और कार्यकारी न्यायाधीश

- संविधा के **अनुच्छेद 223** के तहत जब उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश का पद रिक्त हो या जब अनुपस्थिति या अन्य किसी कारण से वह अपने कर्तव्यों का पालन करने में असमर्थ हो तो वैसी

स्थिति में राष्ट्रपति अन्य न्यायाधीशों में से एक को उस पद के कर्तव्यों का पालन करने के लिए नियुक्त करेगा।

- **अनुच्छेद 224** के अंतर्गत न्यायालय बढ़े हुए कार्यों या बकाया कार्यों को निपटाने के लिए राष्ट्रपति की अनुमति से अतिरिक्त न्यायाधीशों की नियुक्ति भी कर सकता है।
- ऐसे न्यायाधीश दो वर्ष की कालावधि के लिए नियुक्त होते हैं।

न्यायाधीशों की योग्यताएँ

- उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का पद प्राप्त करने के लिए निम्न योग्यताएँ होनी आवश्यक हैं—

1. वह व्यक्ति का नागरिक हो।

2. वह कम-से-कम 10 वर्ष तक भारत के किसी क्षेत्र में न्याय संबंधी पद पर कार्य कर चुका हो, अथवा

3. एक या एक से अधिक उच्च न्यायालयों में कम-से-कम लगातार 10 वर्ष तक अधिवक्ता रह चुका हो।

न्यायाधीशों के वेतन तथा भत्ते

- इस वेतन के अतिरिक्त उन्हें समस्त वेतन और उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं, जिन्हें भारतीय संसद समय-समय पर निश्चित करती है।
- न्यायाधीशों के कार्यकाल में वित्तीय संकट के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्थिति में उनके वेतन में अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता।
- इस व्यवस्था के आधार पर उन्हें व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के प्रभाव से मुक्त किया गया है।
- उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीशों का मूल वेतन वर्तमान में 90,000 रु० प्रतिमाह है तथा उच्च न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों का मूल वेतन वर्तमान में 80,000 रु० है।

कार्यकाल तथा महाभियोग

- मूल संविधान की व्यवस्था के अनुसार उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की सेवानिवृत्ति की आयु 60 वर्ष थी किंतु मई, 1963 के पंद्रहवें संशोधन के अनुसार अब सेवानिवृत्ति की आयु 62 वर्ष कर दी गई है।
- इसके पूर्व यह स्वयं अपना पद-त्याग कर सकता है। संविधान के द्वारा भारतीय संसद को भी महाभियोग के आधार पर उसको उनके पद से हटाने का अधिकार दिया गया है।
- ऐसा करने का ढंग वही है जिसके आधार पर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को उनके पद से हटाया जा सकता है।
- यदि संसद के दोनों सदन अपनी अलग-अलग कुल सदस्य संख्या के बहुमत और उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से किसी न्यायाधीश को अयोग्य या दुराचारी सिद्ध कर देते हैं और जब ऐसा प्रस्ताव राष्ट्रपति के सम्मुख रखा जाता है तो राष्ट्रपति के आदेश से उसे अपना पद त्यागना पड़ता है।
- इस प्रकार का प्रस्ताव संसद के एक ही सत्र में पारित होना चाहिए।

उच्च न्यायालय-अधिकारिता और अवस्थान

क्र० सं०	नाम	स्थापना की तारीख	राज्य क्षेत्रीय अधिकारिता	अवस्थान
1.	इलाहाबाद	1866	उत्तर प्रदेश	इलाहाबाद (लखनऊ में खंडपीठ)
2.	आंध्र प्रदेश	1954	आंध्र प्रदेश	हैदराबाद
3.	बंबई (मुंबई)	1862	महाराष्ट्र, दादरा और नगर हवेली ओर गोवा, दमन और दीव	मुंबई (नागपुर, पणजी और औरंगाबाद में खंडपीठ)
4.	कलकत्ता (कोलकाता)	1862	पश्चिम बंगाल तथा अंडमान और निकोबार द्वीप समूह	कोलकाता (पोर्ट ब्लेयर में खंडपीठ)
5.	दिल्ली	1966	दिल्ली	दिल्ली
6.	गुवाहाटी	1948	असम, मणिपुर, मेघालय, नागालैंड, त्रिपुरा, मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश	गुवाहाटी (कोहिमा में खंडपीठ और इंफाल, अगरतला और शिलांग में सर्किट खंडपीठ)
7.	गुजरात	1960	गुजरात	अहमदाबाद
8.	हिमाचल प्रदेश	1971	हिमाचल प्रदेश	शिमला
9.	जम्मू-कश्मीर	1957	जम्मू-कश्मीर	श्रीनगर और जम्मू
10.	कर्नाटक	1884	कर्नाटक	बंगलुरु
11.	केरल	1956	केरल और लक्षद्वीप	एर्नाकुलम
12.	मध्य प्रदेश	1956	मध्य प्रदेश	जबलपुर (ग्वालियर और इंदौर में खंडपीठ)
13.	मद्रास (चेन्नई)	1862	तमिलनाडु और पुदुचेरी	चेन्नई
14.	उड़ीसा (ओडिसा)	1948	ओडीसा	कटक
15.	पटना	1916	बिहार	पटना
16.	पंजाब और हरियाणा	1966	पंजाब, हरियाणा और चंडीगढ़	चंडीगढ़
17.	राजस्थान	1950	राजस्थान	जोधपुर (जयपुर में खंडपीठ)
18.	सिक्किम	1975	सिक्किम	गंगटोक
19.	छत्तीगढ़	2000	छत्तीसगढ़	बिलासपुर
20.	उत्तराखंड	2002	उत्तराखंड	नैनीताल
21.	झारखंड	2002	झारखंड	राँची

उच्च न्यायालय की शक्तियाँ तथा अधिकार-क्षत्र

- भारतीय संघ के प्रत्येक उच्च न्यायालय को दो प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त हैं—1. न्याय संबंधी, और 2. प्रशासन संबंधी।

- फौजदारी अपीलीय क्षेत्राधिकार के अंतर्गत उच्च न्यायालय में निम्नलिखित प्रकार के न्यायिक निर्णयों के विरुद्ध अपील की जा सकती है—

(i) उच्च न्यायालय के प्रारंभिक फौजदारी अधिकार के अंतर्गत लिया गया निर्णय।

(ii) किसी सत्रीय न्यायाधीश या अतिरिक्त सत्रीय न्यायाधीशों द्वारा लिया गया निर्णय।

(iii) किसी उपसत्रीय न्यायाधीश या किसी मजिस्ट्रेट के द्वारा लिया गया निर्णय, अगर इस मामले में सजा की अवधि चार वर्ष से अधिक हो।

(iv) किसी प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट के द्वारा लिया गया निर्णय।

(v) भारतीय दंड संहिता की धारा 124 (क) के अंतर्गत किसी जिला न्यायाधीश का निर्णय।

- संविधान लागू होने के पूर्व राजस्व या उसके संग्रह संबंधी मामले उच्च न्यायालय में नहीं जा सकते थे। अब यह प्रतिबंध हटा लिया गया है।
- आय-कर, बिक्री-कर आदि के मुकदमों के लिए जो विधिक न्यायाधिकरण स्थापित किए गए हैं, उनके फैसलों के विरुद्ध भी उच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है।
- उच्च न्यायालयों को पेटेंट और डिजाइन, उत्तराधिकार, भूमि-प्राप्ति, दिवालियापन और संरक्षता से संबंधित मुकदमों की अपील सुनने का भी अधिकार प्राप्त है।

प्रशासन संबंधी अधिकार

- प्रशासन समय-समय पर शासन व कार्यपालिका को नियंत्रित करने के लिए विभिन्न उपायों के तहत कुछ कार्यवाहियों को मूर्त रूप प्रदान करता है—

1. लेख जारी करने का अधिकार—भारतीय संविधान के **अनुच्छेद 226** के तहत उच्च न्यायालयों को मौलिक अधिकारों को लागू करने तथा अन्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लेख, आदेश तथा निर्देश जारी करने का अधिकार दिया गया है।

2. न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति—न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का अर्थ है—संवैधानिक संशोधन, केंद्रीय कानून या राज्य के कानून की संविधान के आधार पर जाँच और संविधान के विरुद्ध पाए जाने पर उन्हें अवैध घोषित करना।

- संविधान के द्वारा उच्च न्यायालयों को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्रदान की गई है।
- उच्च न्यायालयों को यह अधिकार है कि वे किसी भी ऐसे संवैधानिक संशोधन, केंद्रीय कानून या राज्य के कानून को अवैधानिक घोषित कर दें जो संविधान के प्रावधानों के विपरीत हो।
- 42वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा उच्च न्यायालयों की लेख जारी करने की शक्ति व न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति को सीमित कर दिया गया था और न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रक्रिया को मुश्किल बना दिया गया था।
- 43वें संवैधानिक संशोधन एवं 42वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा उत्पन्न की गई स्थिति को समाप्त कर दिया गया है।
- अब उच्च न्यायालयों को न्यायिक पुनर्विलोकन के संबंध में वही स्थिति और शक्ति प्राप्त हो गई है, जो 42वें संवैधानिक संशोधन के पूर्व थी।

3. उच्च न्यायालय अभिलेख न्यायालय—सर्वोच्च न्यायालय की भाँति उच्च न्यायालय भी एक अभिलेख न्यायालय है।

- इसके निर्णयों को प्रमाण के रूप में अन्य न्यायालयों के समक्ष पेश किया जा सकता है।

- इन निर्णयों को किसी न्यायालय में पेश किए जाने पर उनकी वैधानिकता पर संदेह नहीं किया जा सकता है।
- उच्च न्यायालय के द्वारा अपनी अवमानना के लिए किसी भी व्यक्ति को दंडित किया जा सकता है।

न्यायिक क्षेत्र में प्रशासन की शक्तियाँ

- उच्च न्यायालय को न्यायिक शक्ति के अतिरिक्त अपने राज्य की समस्त न्याय-व्यवस्था के क्षेत्र में व्यापक प्रशासनिक शक्तियाँ भी प्राप्त हैं।
- यह राज्य की समस्त न्याय-व्यवस्था पर निम्न प्रकार के नियंत्रण रखता है—

1. अनुच्छेद 227 के अनुसार उच्च न्यायालय अपने अधीन न्यायालयों और न्यायाधिकरणों पर निरीक्षण का अधिकार रखता है। अपने इस अधिकार के तहत वह अपने अधीन न्यायालयों से आए किसी भी मुकदमे से संबंधित कागजात मँगवाकर देख सकता है।

2. संविधान के **अनुच्छेद 228** के अनुसार, न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि यदि न्यायालय के विचाराधीन किसी मुकदमे में संविधान की व्याख्या से संबंधित प्रश्न अन्तर्निहित हो, तो वह उस मुकदमे को अपने पास मँगवा सकता है।

इस संबंध में तो उच्च न्यायालय स्वयं ही मुकदमे का फैसला कर सकता है या केवल कानून के प्रश्न को निर्धारित कर निम्न न्यायालय को उस मुकदमे का फैसला करने के संबंध में निर्देश दे सकता है।

3. उच्च न्यायालय के द्वारा किसी विवाद को एक अधीनस्थ न्यायालय से दूसरे अधीनस्थ न्यायालय में स्थानांतरित किया जा सकता है।

4. उच्च न्यायालय अपने अधीनस्थ न्यायालय की कार्य-पद्धति, रिकार्ड और रजिस्टर तथा हिसाब इत्यादि रखने के संबंध में अपने अधीनस्थ न्यायालयों के लिए नियम बना सकता है।

5. उच्च न्यायालय अपने अधीनस्थ न्यायालयों के लिए शेरिफ, क्लर्क, अन्य कर्मचारी तथा वकील आदि के वेतन, सेवा शर्तों और फीस आदि को निश्चित कर सकता है।

6. उच्च न्यायालय, जिला न्यायालय तथा सबसे छोटे न्यायालयों के अधिकारियों की नियुक्ति, पदावनति, उन्नति और छुट्टी इत्यादि के संबंध में भी नियम बना सकता है।

7. उच्च न्यायालय के अधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति की शक्ति उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति को प्राप्त होती है।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की स्वतंत्रता

- उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की स्वतंत्रता के लिए संविधान के द्वारा वैसे ही उपबंधों की व्यवस्था की गई है जैसे उपबंधों की व्यवस्था सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए है।
- संक्षेप में ये उपबंध निम्नलिखित हैं—

1. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा होती है और यह नियुक्ति न्यायिक योग्यता धारण करने वाले व्यक्तियों के परामर्श के आधार पर की जाती है।

2. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का कार्यकाल सुरक्षित होता है। न्यायाधीश अवकाश ग्रहण की आयु तक अपना कार्य करते हैं और इस अवधि से पूर्व न्यायाधीशों को सिर्फ महाभियोग की विशेष प्रक्रिया के आधार पर ही हटाया जा सकता है।

3. उच्च न्यायालय का न्यायाधीश, सर्वोच्च न्यायालय तथा उन उच्च न्यायालयों में जिनका वह न्यायाधीश नहीं रह चुका है, को छोड़कर, अन्य किसी न्यायालय या पदाधिकारी के समक्ष वकालत नहीं कर सकता।

4. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन संविधान के द्वारा निश्चित कर दिया गया है और पद ग्रहण के बाद उनके वेतन, भत्ते आदि में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता। वेतन, भत्ते, पेंशन तथा छुट्टी के संबंध में नियम निर्माण का अधिकार सिर्फ संसद को प्राप्त है, न कि राज्य के विधानमंडल को।

5. न्यायाधीशों का वेतन तथा उच्च न्यायालय का प्रशासनिक व्यय भारत सरकार की संचित निधि पर भारित होता है, इसलिए उन पर संसद या राज्य विधानमंडल में मतदान नहीं कराया जा सकता है।

6. उच्च न्यायालय के अधिकारियों की नियुक्ति संबंधित न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश करता है तथा उसकी सेवा शर्तें भी उसी के द्वारा निर्धारित होती हैं।

इस प्रकार भारतीय संविधान द्वारा उच्च न्यायालयों की पूर्ण स्वतंत्रता की व्यवस्था की गई है।

- भारतीय संघ के विभिन्न उच्च न्यायालयों के अब तक के कार्य के आधार पर कहा जा सकता है कि उच्च न्यायालय अपने कर्तव्यपालन में पूर्णतया स्वतंत्र और निष्पक्ष रहे हैं।

अधीनस्थ न्यायालयों पर उच्च न्यायालय का अधीक्षण और नियंत्रण

अनुच्छेद 227 के अंतर्गत उच्च न्यायालय को अपने क्षेत्राधिकार के अंतर्गत सभी न्यायालयों एवं न्यायाधिकरणों की देखभाल की शक्तियाँ प्राप्त हैं। वह अधीनस्थ न्यायालयों से कार्य का विवरण (return) माँग सकता है। वह अपने अधीनस्थ न्यायालयों की कार्यप्रणाली के संबंध में नियम बना सकता है। वह मुकदमे को एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय में विचारण के लिए भेज सकता है। वह अधीनस्थ न्यायालयों के अभिलेखों को रखने के संबंध में उचित आदेश दे सकता है। इसके अतिरिक्त उच्च न्यायालय किसी भी मुकदमे की सुनवाई को स्थगित करने का आदेशदे सकता है। वह अधीनस्थ न्यायालयों में कार्यरत मजिस्ट्रेट एवं न्यायाधीश के विरुद्ध अनुशासनिक कार्यवाही कर सकता है। वह अधीनस्थ न्यायालयों के शेरीफ, लिपिकों, पदाधिकारियों तथा अधिवक्ताओं को मिलने वाली फीस की सारणी भी निश्चित कर सकता है। इन न्यायाधीशों का स्थानांतरण करने की शक्ति भी उच्च न्यायालय को ही प्राप्त है। उच्च न्यायालयों को अधीनस्थ न्यायालयों पर न्यायिक नियंत्रण भी रखने की शक्ति प्राप्त है। अनु० 228 के अंतर्गत उच्च न्यायालय यदि इस बात से संतुष्ट हो जाता है कि अधीनस्थ न्यायालय में लंबित संवैधानिक मामले में विधि से संबंधित अगर कोई सारवान प्रश्न निहित है तथा जिसका निर्धारण आवश्यक है तो वह मामले को अपने पास मंगाकर खुद निर्णय दे सकता है। उच्च न्यायालय को न्यायिक सेवा पद पर काम करने वाले व्यक्तियों की पदस्थापना (Posting), पदोन्नति, छुट्टी इत्यादि देने का अधिकार प्राप्त है। इसके अतिरिक्त प्रशासकीय नियंत्रण की भी शक्ति उसे प्राप्त है। वह अधीनस्थ न्यायालयों में काम करने वाले न्यायाधीशों के विरुद्ध अनुशासनिक कार्यवाही भी कर सकता है। इस प्रकार उच्च न्यायालय को अधीनस्थ न्यायालयों पर विस्तृत नियंत्रण की शक्ति प्राप्त है। अनुच्छेद 227 के अंतर्गत उच्च न्यायालय को अधीनस्थ न्यायालय पर निरीक्षण करने की शक्ति व्यापक रूप से प्राप्त है। वह अपने क्षेत्र के अंतर्गत अधीनस्थ न्यायालयों के कार्यों का विवरणी माँगकर उसकी जाँच कर सकता है। न्यायालय कार्य प्रणाली के संबंध में नियम बना सकता है। यह न्याय के उद्देश्य से मुकदमे को एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय में हस्तांतरित कर सकता है।

सेशन कोर्ट की प्रक्रिया

दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 225 से 237 तक सेशन के मामले की प्रक्रिया (सत्र न्यायालय द्वारा विचारण की प्रक्रिया) का विवरण है।

सत्र-न्यायालय में अभियोजन (prosecution) का संचालन लोक अभियोजक (public prosecutor) द्वारा किया जाएगा। (धारा 225)

सर्वप्रथम लोक अभियोजक अभियुक्त के विरुद्ध लगाये गये आरोपों के बारे में न्यायालय के समक्ष वर्णन करेगा और यह बतायेगा कि अभियुक्त के विरुद्ध वह कौन-सा साक्ष्य प्रस्तुत करेगा। (धारा 226)

यदि सत्र न्यायालय मामले के अभिलेख और अभियुक्त तथा अभियोजन के कथन को सुनने के पश्चात इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अभियुक्त के विरुद्ध आगे कार्यवाही करने का पर्याप्त आधार नहीं है, अभियुक्त को मुक्त कर देगा। परंतु इसके लिए वह उन कारणों को लेखबद्ध करेगा जिसके आधार पर निष्कर्ष पर पहुँचा है। **(East 1994 crime 552)** (धारा 227)

यदि उपरोक्त विचार और सुनवाई के पश्चात जज की यह राय हे कि ऐसी उपधारणा करने का आधार है कि अभियुक्त ने अपराध किया है जो उस न्यायालय द्वारा विचारणीय है, तो वह अभियुक्त के विरुद्ध आरोप का गठन करेगा तथा उसे अभियुक्त को पढ़कर सुनाया या समझाया जायेगा और अभियुक्त से यह पूछा जायेगा कि क्या वह उस अपराध का, जिसका आरोप लगाया गया है, दोष स्वीकार करता है या विचारण किये जाने का दावा करता है।

परंतु जज की यदि यह राय है कि मामला सेशन न्यायालय द्वारा विचारणीय नहीं है तो वह अगर चाहे तो आरोप गठित कर मामले की विचारण के लिए मुख्य न्यायिक दंडाधिकारी को भेज देगा। (धारा 228)

धारा 228 के अंतर्गत आरोप गठित करने के प्रश्न पर **विभूति यादव बनाम बिहार राज्य 1974 (I) East Cr. p. 142** के मामले में यह मत व्यक्त किया गया है कि आरोप गठित करने के उद्देश्य से जज को अभिलेख के तथ्यों पर विचार करना होगा कि क्या युक्ति-युक्त रूप से कहा जा सकता है कि अभियुक्त ने अपराध में हिस्सा लिया है तथा उस तथ्य के आधार पर युक्ति-युक्त रूप से क्या इस बात की संभावना या उम्मीद है कि अभियुक्त कथित अपराध के लिए दोषी पाया जायेगा। उत्तर अगर सकारात्मक है तो जज इस बात की उपधारणा कर सकता है कि—

''अभियुक्त ने अपराध किया है'' और वह आरोप का गठन करेगा। उत्तर यदि नकारात्मक है तो जज अभियुक्त को उन्मोचित (discharge) कर देगा।

यदि अभियुक्त दोष स्वीकार करता है तो वह अभियुक्त को उचित दंड देगा। (धारा 229)

यदि अभियुक्त दोष स्वीकार नहीं करता है तो न्यायाधीश साक्षियों की परीक्षा के लिए कोई तिथि निश्चित करेगा और अभियोजन की प्रार्थना पर अभियोजन के साक्षी को उपस्थित होने या अभिलेख लाने के लिए आदेशिका (सम्मान) जारी करेगा।

निश्चित तिथि पर न्यायाधीश ऐसे सभी साक्ष्य लेने के लिए अग्रसर होगा जो अभियोजन प्रस्तुत करे। न्यायाधीश अपने विवेक के अनुसार साक्षी का प्रति परीक्षण तब तक के लिए स्थगित रखेगा जब तक कि अन्य साक्षियों की परीक्षा न ले ली जाए।

यदि अभियोजन पक्ष का साक्ष्य लेने तथा अभियुक्त की परीक्षा करने तथा अभियोजन तथा बचाव पक्ष को सुनने के पश्चात, यदि न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस बात का कोई साक्ष्य नहीं है तो वह अभियुक्त को दोषमुक्त कर देगा। (धारा 232) अभियुक्त दोष-मुक्त नहीं किया जाता है तो अभियुक्त से इस बात की अपेक्षा की जायेगी कि वह अपनी प्रतिरक्षा (defence) आरंभ करे। यदि अभियुक्त अपनी सफाई के संबंध में कोई लिखित कथन दे तो वह रिकार्ड में रखा जायेगा और निर्णय के

समय उस पर भी विचार किया जायेगा। यदि अभियुक्त किसी साक्षी को हाजिर होने के लिए न्यायालय द्वारा सम्मन लेना चाहे तो सम्मन जारी किया जायेगा। (धारा 233)

अभियुक्त (बचाव पक्ष) (defence) के गवाह के बाद दोनों पक्षों की बहस होगी। अभियोजक अपने मामले का उपसंहार करेगा और अभियुक्त या उसका अधिवक्ता उत्तर देने का हकदार होगा। (धारा 234)

दोनों पक्षों की बहस सुनने के बाद न्यायालय अपना निर्णय सुनायेगा कि अभियुक्त दोषी है या निर्दोष। (धारा 235)। यदि अभियुक्त दोषी है तो दंड के प्रश्न पर अभियुक्त के अधिवक्ता को सुनने के बाद ही वह दंड सुनायेगा।

2.6. अधीनस्थ न्यायालय (Subordinate Courts)

राज्य की न्यायपालिका में एक उच्च न्यायालय एवं अधीनस्थ न्यायालय होते हैं, जिन्हें निम्न न्यायालयों के नाम से भी जाना जाता है। इन्हें अधीनस्थ न्यायालय कहने का कारण यह है कि ये उच्च न्यायालय के अधीन होते हैं। ये उच्च न्यायालय के अधीन निर्देशानुसार जिला और निम्न स्तरों पर कार्य करते हैं।

संवैधानिक उपबंध

संविधान के भाग VI में अनुच्छेद 233 से 237 तक इन न्यायालयों के संगठन एवं कार्यपालिका से स्वतंत्रता सुनिश्चित करने वाले उपबंधों का वर्णन किया गया है।

1. जिला न्यायाधीश की नियुक्ति—जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति, पदस्थापना एवं पदोन्नति राज्यपाल द्वारा राज्य के उच्च न्यायालय के परामर्श से की जाती है।

वह व्यक्ति जिसे जिला न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किया जाता है, उसमें निम्न योग्यतायें होनी चाहिए—

(क) वह केंद्र या राज्य सरकार में किसी सरकारी सेवा में कार्यरत न हो।

(ख) उसे कम-से-कम सात वर्ष का अधिवक्ता का अनुभव हो। तथा

(ग) उच्च न्यायालय ने उसकी नियुक्ति की सिफारिश की हो।

2. अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति—राज्यपाल, जिला न्यायाधीश से भिन्न व्यक्ति को भी न्यायिक सेवा में नियुक्त कर सकता है किंतु वैसे व्यक्ति को, राज्य लोक सेवा आयोग और उच्च न्यायालय के परामर्श के बाद ही नियुक्त किया जा सकता है।

3. अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण—जिला न्यायालयों एवं अन्य न्यायालयों में न्यायिक सेवा से संबद्ध व्यक्ति की पदस्थापना, पदोन्नति एवं अन्य मामलों पर नियंत्रण का अधिकार राज्य के उच्च न्यायालय को होता है।

4. व्याख्या—'जिला न्यायाधीश' के अंतर्गत-नगर दीवानी न्यायाधीश, अपर जिला न्यायाधीश, संयुक्त जिला न्यायाधीश, सहायक जिला न्यायाधीश, लघु न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश, मुख्य प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट, अतिरिक्त मुख्य प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट, सत्र न्यायाधीश, अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश एवं सहायक सत्र न्यायाधीश आते हैं।

'न्यायिक सेवा' में वे अधिकारी आते हैं, जो जिला न्यायाधीश एवं उससे नीचे के न्यायिक पदों से संबद्ध होते हैं।

5. कुछ न्यायाधीशों के लिये उक्त उपबंधों का लागू होना—राज्यपाल यह निर्देश दे सकते हैं कि उक्त प्रावधान राज्य की न्यायिक सेवा से संबंधित न्यायाधीशों के किसी वर्ग या वर्गों पर लागू हो सकते हैं।

संरचना एवं अधिकार क्षेत्र

राज्य द्वारा अधीनस्थ न्यायिक सेवा की संगठनात्मक संरचना, अधिकार-क्षेत्र एवं अन्य शर्तों का निर्धारण किया जाता है। हालांकि एक राज्य से दूसरे राज्य में इनकी प्रकृति भिन्न हो सकती है। तथापि सामान्य रूप से उच्च न्यायालय से नीचे के दीवानी एवं फौजदारी न्यायालयों के तीन स्तर होते हैं। इन्हें नीचे दर्शाया गया है—

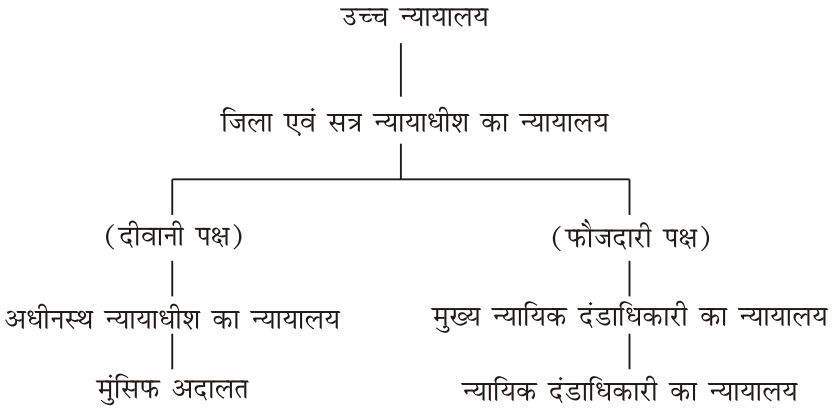

जिला न्यायाधीश, जिले का सबसे बड़ा न्यायिक अधिकारी होता है। उसे सिविल और आपराधिक मामलों में मूल और अपीलीय क्षेत्राधिकार प्राप्त है। दूसरे शब्दों में, जिला न्यायाधीश, सत्र न्यायाधीश भी होता है। जब वह दीवानी मामलों की सुनवाई करता है तो उसे जिला न्यायाधीश कहा जाता है तथा जब वह फौजदारी मामलों की सुनवाई करता है तो उसे सत्र न्यायाधीश कहा जाता है। जिला न्यायाधीश के पास न्यायिक एवं प्रशासनिक दोनों प्रकार की शक्तियाँ होती हैं। उसके पास जिले के अन्य सभी अधीनस्थ न्यायालयों का निरीक्षण करने की शक्ति भी होती है। उसके फैसले के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है। जिला न्यायाधीश को किसी अपराधी को उम्रकैद से लेकर मृत्युदंड देने तक का अधिकार होता है। हालांकि उसके द्वारा दिये गये मृत्युदंड पर तभी अमल किया जाता है, जब राज्य का उच्च न्यायालय उसका अनुमोदन कर दे।

जिला एवं सत्र न्यायाधीश से नीचे दीवानी मामलों के लिये अधीनस्थ न्यायाधीश का न्यायालय तथा फौजदारी मामलों के लिये मुख्य न्यायिक दंडाधिकारी का न्यायालय होता है। अधीनस्थ न्यायाधीश को दीवानी याचिका (सिविल सूट) के संबंध में अत्यंत व्यापक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। मुख्य न्यायिक दंडाधिकारी फौजदारी मामले की सुनवाई करता है तथा सात वर्ष तक के कारावास की सजा दे सकता है।

सबसे निचले स्तर पर, दीवानी मामलों के लिये मुंसिफ न्यायाधीश का न्यायालय तथा फौजदारी मामलों के लिये सत्र न्यायाधीश का न्यायालय होता है। मुंसिफ न्यायाधीश का सीमित कार्यक्षेत्र होता है तथा वह छोटे दीवानी मामलों पर निर्णय देता है। सत्र न्यायाधीश ऐसे फौजदारी मामलों की सुनवाई करता है जिसमें तीन वर्ष के कारावास की सजा दी जा सकती है।

कुछ महानगरों में, दीवानी मामलों के लिए नगर सिविल न्यायालय (मुख्य न्यायाधीश) एवं फौजदारी मामलों के लिये महानगर न्यायाधीश का न्यायालय होता है।

कुछ राज्यों एवं प्रेसीडेंसी नगरों में छोटे मामलों के लिये पृथक न्यायालयों की स्थापना की गयी है। ये न्यायालय छोटे दीवानी मामलों की सुनवाई करते हैं। उनका निर्णय अंतिम होता है लेकिन उच्च न्यायालय उनके निर्णयों की समीक्षा कर सकता है।

कुछ राज्यों में पंचायत न्यायालय भी छोटे दीवानी एवं फौजदारी मामलों की सुनवाई करते हैं। इन्हें कई नामों से जाना जाता है, जैसे—न्याय पंचायत, ग्राम कचहरी, अदालती पंचायत, पंचायत अदालत आदि।

सारांश (Summary)

- प्रशासनिक विधि एवं संवैधानिक विधि दोनों का संबंध सरकार के कार्यों से है। ये दोनों ही राज्य की मूल विधियाँ हैं।
- 'विधि का शासन' का अर्थ है कि विधि की सर्वोच्चता अर्थात् कोई भी व्यक्ति चाहे उसकी अवस्था या पद कुछ भी हो, वह विधि से ऊपर नहीं है।
- मौलिक विधि से तात्पर्य उस वैधानिक अथवा लिखित कानून से है जो व्यक्ति के अधिकार तथा कर्त्तव्यों मे परिभाषित करता है, जैसे—दंड संहिता एक मौलिक विधि है।
- विधिक प्रक्रिया से तात्पर्य उस सुनिश्चित प्रक्रिया से है जो वाद (सिविल या आपराधिक) को निर्णीत करने तक अपनाई जाती है। उदाहरण के लिए—दंड प्रक्रिया संहिता एक विधिक प्रक्रिया है।
- सिविल कानून—वे सभी कानून जो अपराध कानून नहीं हैं, सिविल कानून कहलाते हैं, जैसे—व्यावसायिक कानून, औद्योगिक कानून।
- भारत के उच्चतम न्यायालय का उदघाटन 28 जनवरी, 1950 को किया गया।
- इस समय उच्चतम न्यायालय में 31 न्यायाधीश (एक मुख्य न्यायाधीश) एवं तीस अन्य न्यायाधीश हैं।
- 1961 में मूल न्यायक्षेत्र के पहले मामले में पश्चिम बंगाल द्वारा केंद्र के खिलाफ मामला लाया गया।
- उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीशों का मूल वेतन वर्तमान में 90,000 रु० प्रतिमाह है तथा उच्च न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों का मूल वेतन वर्तमान में 80,000 रु० है।
- मूल संविधान की व्यवस्था के अनुसार उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की सेवानिवृत्ति की आयु 60 वर्ष थी, किंतु मई 1963 के पंद्रहवें संशोधन के अनुसार अब सेवानिवृत्ति की आयु 62 वर्ष कर दी गई है।

अभ्यास-प्रश्न (Questions)

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में प्रशासनिक विधि के स्रोत का वर्णन कीजिए।
2. संवैधानिक विधि एवं प्रशासनिक विधि में क्या अंतर है?
3. प्रशासनिक विधि और विधि शासन में अंतर स्पष्ट कीजिए।
4. मौलिक विधि से क्या तात्पर्य है? उदाहरण देकर समझाइये।
5. उच्चतम न्यायालय के गठन का वर्णन कीजिए।
6. न्यायिक और अर्द्ध-न्यायिक कार्यों में क्या भिन्नता है?
7. संविधान ने उच्चतम न्यायालय की स्वतंत्रता और निष्पक्ष कार्यकरण सुनिश्चित करने के लिए कौन-कौन से उपबंध किए हैं?

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

१. विधिक प्रक्रिया से आप क्या समझते हैं? वर्णन कीजिए।

२. उचचतम न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत कौन-से मामले आते हैं?

३. उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति कैसे होती है?

4. उच्चतम न्यायालय के मूल क्षेत्राधिकार का वर्णन कीजिए।

5. उच्चतम न्यायालय एक अभिलेख न्यायालय है—कैसे?

6. सेशन कोर्ट की प्रक्रिया को समझाइए।

बहु-विकल्पीय प्रश्न

1. दंड संहिता है -
   (a) मौलिक विधि (b) विधिक प्रक्रिया
   (c) प्रक्रिया विधि (d) उपरोक्त में से कोई नहीं
2. औद्योगिक कानून ..... के अन्तर्गत आते हैं।
   (a) आपराधिक कानून (b) सिविल कानून
   (c) प्रशासकीय विधि (d) उपरोक्त में से कोई नहीं
3. कार्यपालिका, न्यायपालिका तथा व्यवस्थापिका का निर्माण ..... विधि द्वारा होता है।
   (a) प्रशासनिक (b) संवैधानिक
   (c) विधि शासन (d) उपरोक्त में से कोई नहीं
4. ..... संविधान द्वारा प्रदत्त संबंधों को संरक्षण प्रदान करती है।
   (a) संवैधानिक विधि (b) प्रशासनिक विधि
   (c) दोनों (a) तथा (b) (d) उपरोक्त में से कोई नहीं
5. भारत के उच्चतम न्यायालय का गठन ..... को किया गया।
   (a) 28 जनवरी, 1947 (b) 26 जनवरी, 1950
   (c) 28 जनवरी, 1950 (d) उपरोक्त में से कोई नहीं
6. उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीशों का वर्तमान वेतनमान है ..... प्रतिमाह।
   (a) 50,000 रु० (b) 70,000 रु०
   (c) 80,000 रु० (d) 90,000 रु०
7. सिविल प्रक्रिया संहिता है एक .....
   (a) मौलिक विधि (b) विधिक प्रक्रिया
   (c) आपराधिक प्रक्रिया (d) इनमें से कोई नहीं
8. उच्च न्यायालय के मुख्य न्याधीशों की सेवानिवृत्ति की आयु है ..... वर्ष।
   (a) 58 (b) 60
   (c) 62 (d) 70
9. पुलिस द्वारा अपराधी के विरुद्ध साक्ष्य एकत्र करने की कार्यवाही को ..... कहा जाता है।
   (a) जाँच (b) अनुसंधान
   (c) विचारण (d) न्यायिक प्रक्रिया
10. मजिस्ट्रेट द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता के अन्तर्गत किसी मामले में साक्ष्य एकत्र करने को ..... कहा जाता है।
    (a) अनुसंधान (b) विचारण
    (c) जाँच (d) न्याय

उत्तर

1. () 2. (b) 3. (a) 4. (b) 5. (c) 6. (d) 7. (b) 8 (c) 9. (b) 10. (c)

❑❑❑

इकाई (Unit)

3

संघटक
(COMPONENTS)

संरचना

- उद्देश्य (Objectives)
- परिचय (Introduction)
- अन्वेषण करने वाले पुलिस अधिकारी की शक्तियाँ (Powers of Investigationary Police Officer)
- गिरफ्तारी (Arresting)
- जमानत (Bail)
- अग्रिम जमानत (Anticipatory Bail)
- आरोप (Charge)
- भारतीय संविधान के अंतर्गत अभियुक्त को प्रदत्त संरक्षण (The Protection given an Accused by Indian Constitution)
- बाल अपराध (Juvenile Delinquency)
- बाल न्यायालय (Juvenile Court)
- किशोर न्याय अधिनियम 1986 की विशेषताएँ (Characteristics of Juvenile Justice Act 1986)
- सारांश (Summary)

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

3.1. उद्देश्य (Objectives)

इस पाठ के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं –

- अनुसंधान करने वाले पुलिस अधिकारी की शक्तियों से अवगत होना।
- गिरफ्तारी,जमानत, अग्रिम जमानत आदि से संबंधित जानकारी हासिल करना।
- भारतीय संविधान के अंतर्गत अभियुक्त को प्रदत्त संरक्षण से संबंधित बातों को जानना।
- बाल–अपराध, बाल–न्यायालय आदि की विस्तृत जानकारी।
- किशोर न्याय अधिनियम 1986 की विशेषताओं से परिचित होना।

3.2. परिचय (Introduction)

अन्वेषण–'अन्वेषण' को दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा (2h) में इस प्रकार परिभाषित किया गया है– अन्वेषण के अन्तर्गत वे सभी कार्यवाहियाँ आती हैं जो इस संहिता के अधीन पुलिस अधिकारी द्वारा या 'मजिस्ट्रेट से भिन्न) किसी भी ऐसे व्यक्ति द्वारा इस निमित्त साक्ष्य एकत्रित करने के लिए प्राधिकृत की जाती है।

इस प्रकार पुलिस द्वारा अपराधी के विरुद्ध साक्ष्य इकट्ठा करने की कार्यवाही को अनुसंधान कहा जाता है। परन्तु इस प्रकार की कार्यवाही पुलिस के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति द्वारा (मजिस्ट्रेट से भिन्न) भी हो सकती है अगर उसे किसी प्राधिकृत व्यक्ति द्वारा प्राधिकृत किया गया हो। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अनुसंधान या तो पुलिस द्वारा या मजिस्ट्रेट को छोड़ किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा भी हो सकता है जिसे मजिस्ट्रेट ने प्राधिकृत किया है।

जाँच (Inquiry)–दण्ड संहिता के अन्तर्गत किसी मामले में साक्ष्य इकट्ठा करने की कार्यवाही के लिए न्यायिक मजिस्ट्रेट को भी प्राधिकृत किया गया है। मजिस्ट्रेट द्वारा साक्ष्य इकट्ठा करने की कार्यवाही को जाँच (inquiry) कहा जाता है।

दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा (2g) के अनुसार, ''जाँच का अर्थ विचारण से भिन्न ऐसी प्रत्येक जाँच से है जो इस संहिता के अधीन मजिस्ट्रेट या न्यायालय द्वारा की जाती है।

उपर्युक्त परिभाषा से यह स्पष्ट है कि जाँच (Inquiry) विचारण (Trial) से एक भिन्न प्रक्रिया है जो एक न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा या महानगर मजिस्ट्रेट द्वारा या न्यायालय द्वारा किया जाता है। परिभाषा से यह भी स्पष्ट है कि जाँच जब भी होगी तो मजिस्ट्रेट या न्यायालय द्वारा होगी।

विचारण (Trial)–विचारण शब्द को दण्ड प्रक्रिया संहिता के अधीन परिभाषित नहीं किया गया है। परन्तु इसकी परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है–''विचारण विधि द्वारा स्थापित एक न्याय प्रशासन है जिसमें न्यायालय साक्ष्य के गुण-अवगुण के आधार पर अपराधी को दण्ड या इससे मुक्ति देता है।''

अन्वेषण, जाँच तथा **विचारण** के बीच के अन्तर इस प्रकार हैं–

	अन्वेषण (Investigation)		**जाँच (Inquiry)**		**विचारण (Trial)**
1.	अन्वेषण पुलिस पदाधिकारी द्वारा या ऐसे अन्य व्यक्ति द्वारा किया जाता है जिसे मजिस्ट्रेट ने ऐसा करने के लिए उसे अधिकृत किया है।	1.	जाँच न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा की जाती है। धारा 2(g) के अनुसार ''जाँच का अर्थ विचारण (Trial) से भिन्न ऐसी प्रत्येक जाँच से होता है जो इस संहिता के अधीन मजिस्ट्रेट या न्यायालय द्वारा की जाती है।	1.	विचारण न्यायिक मजिस्ट्रेट या जज द्वारा किया जाता है।
2.	अन्वेषण का उद्देश्य अभियोजन के लिए साक्ष्य का संकलन करना है।	2.	जाँच का उद्देश्य तथ्यों की सत्यता को निश्चित करना है जिससे कि उस सम्बन्ध में आगे की कार्यवाही की जा सके।	2.	विचारण का उद्देश्य न्याय देना है।
3.	अन्वेषण न्यायिक कार्यवाही नहीं है। इसकी प्रकृति न्यायिकेतर होती है।	3.	जाँच एक न्यायिक कार्यवाही है।	3.	विचारण भी न्यायिक कार्यवाही है।
4.	अन्वेषण पुलिस द्वारा आपराधिक मामले का प्रथम चरण है।	4.	जाँच भी मजिस्ट्रेट द्वारा आपराधिक मामले की एक कार्यवाही है।	4.	विचारण आपराधिक मामले की अन्तिम कार्यवाही है।

3.3. अनुसंधान करने वाले पुलिस अधिकारी की शक्तियाँ
(Powers of Investigationary Police Officer)

जब किसी अपराध के घटित होने की सूचना पुलिस को प्राप्त होती है तो पुलिस अपराध की तह तक पहुँचने के लिए दण्ड प्रक्रिया संहिता के अध्याय 12 के अन्तर्गत अनुसंधान प्रारम्भ करती है। अनुसंधान के क्रम में पुलिस को घटना के सम्बन्धित साक्षियों से पूछताछ करने के लिए तथा गवाहों को अपने समक्ष बुलाने के लिए दण्ड प्रक्रिया व संहिता की धारा 160 तथा 161 के तहत शक्ति प्रदान की गई है।

दण्ड प्रक्रिया की धारा 160 के तहत पुलिस अनुसंधान पदाधिकारी को यह शक्ति प्राप्त है कि वह अनुसंधान के दौरान ऐसे किसी व्यक्ति को जो घटना के तथ्यों से परिचित प्रतीत होता है, पूछताछ करने के लिए अपने समक्ष हाजिर होने के लिए लिखित आदेश दे सकता है तथा इस प्रकार बुलाये जाने पर सम्बन्धित व्यक्ति को पुलिस अधिकारी के समक्ष हाजिर होना होगा। परन्तु पन्द्रह वर्ष से कम आयु के किसी पुरुष या स्त्री से ऐसे स्थान से भिन्न जिनमें ऐसा पुरुष या स्त्री निवास करती है किसी भी स्थान में हाजिर होने के लिए पुलिस द्वारा आदेश नहीं दिया जा सकता है। इस सम्बन्ध में **श्रीमती नन्दनी सत्पथी के मामले में उच्चतम न्यायालय** ने यह अभिनिर्धारित किया है कि यदि किसी महिला को पुलिस थाने में हाजिर होने के लिए विवश किया जाता है तो यह धारा 160(1) का उल्लंघन है तथा यह एक दण्डनीय अपराध है।

दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 161 में पुलिस द्वारा अनुसंधान के दौरान गवाहों से पूछताछ करने सम्बन्धी शक्ति का उल्लेख है। इस धारा में पुलिस अधिकारी को यह शक्ति दी गई है कि वह अनुसंधान के दौरान ऐसे व्यक्तियों का जो मामले के तथ्य एवं परिस्थितियों से अवगत हैं, मौखिक परीक्षण कर सकता है। यहाँ पर पुलिस अधिकारी के ऊपर यह दायित्व है कि वह मौखिक परीक्षण में कहे गये बयान को सही-सही लिपिबद्ध करे।

पुलिस अधिकारी द्वारा लिपिबद्ध किये गये ऐसे बयान का उपयोग न्यायालय के समक्ष विचारण के समय किस प्रकार से तथा किस सीमा तक किया जा सकता है, इसका उल्लेख दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 162 के अन्तर्गत किया गया है। धारा 162 के अनुसार, न्यायालय के समक्ष मामले के विचारण के दौरान ऐसे कथन का उपयोग अभियुक्त द्वारा या न्यायालय की अनुमति से अभियोजन द्वारा साक्ष्य अधिनियम की धारा 145 में निर्देशित तरीके के अनुसार केवल साक्षी के कथन के खंडन के लिए किया जा सकता है। इस कथन का उपयोग समर्थन के लिए नहीं किया जा सकता है। धारा 162 के अन्तर्गत केवल साक्षी के ऐसे कथन का खंडन किया जा सकता है जो साक्षी द्वारा पुलिस को अनुसंधान के दौरान किया जाता है। अनुसंधान प्रारम्भ होने के पूर्व यदि कोई कथन पुलिस अधिकारी के समक्ष किसी साक्षी द्वारा दिया जाता है तो ऐसा कथन धारा 162 की परिधि में नहीं आयेगा तथा ऐसे कथन का उपयोग अन्य सभी प्रयोजनों के लिए किया जा सकेगा।

3.4. गिरफ़्तारी (Arrest)

दण्ड प्रक्रिया संहिता के अन्तर्गत शब्द गिरफ्तारी को परिभाषित नहीं किया गया है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत यह उपबंन्धित किया गया है कि किसी व्यक्ति को प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता से विधि द्वारा प्रस्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जा सकेगा, अथवा नहीं। संविधान के उपरोक्त प्रावधान को ध्यान में रखते हुए गिरफ्तारी (arrest) की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है-''विधि द्वारा विहित प्रक्रिया के अन्तर्गत किसी व्यक्ति की दैहिक स्वतंत्रता का अवरोध गिरफ्तारी कहलायेगा।'' इस प्रकार दैहिक स्वतंत्रता का अवरोध गिरफ्तारी है।

वाटसन 'गिरफ्तारी' को इस प्रकार परिभाषित करते हैं-'गिरफ्तारी किसी व्यक्ति की दैहिक स्वतंत्रता का अवरोध है जो किसी न्यायालय के आदेश के पालन के लिए किया जाता है, या किसी अपराध को रोकने के लिये किया जाता है या जिस व्यक्ति पर अपराध का आरोप है या अपराध करने की आशंका है'।

इस प्रकार हर अवरोध गिरफ्तारी नहीं है। केवल वही अवरोध गिरफ्तारी है जो विधि की प्रक्रिया के अन्तर्गत किया गया है। इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है-जब कोई पुलिस किसी चोर को पकड़ता है तो यह 'गिरफ्तारी' कहलायेगा क्योंकि यहाँ चोर को पुलिस द्वारा पकड़ा जाना विधि की प्रक्रिया के अन्तर्गत किया गया है। परन्तु जब कोई डकैत किसी व्यक्ति को रुपये के लिए पकड़ता है तो यह गिरफ्तारी नहीं कहलायेगा क्योंकि यहाँ व्यक्ति का पकड़ा जाना किसी विधि की प्रक्रिया के तहत नहीं किया गया है।

गिरफ्तारी व्यक्तियों के अधिकार-गिरफ्तारी व्यक्तियों को दण्ड प्रक्रिया संहिता के अन्तर्गत निम्नलिखित अधिकार प्राप्त है-

(i) गिरफ्तार किये गये व्यक्ति को उसकी गिरफ्तारी के कारण को जानने का अधिकार प्राप्त है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 22(1) के अंतर्गत यह प्रावधान है कि किसी व्यक्ति को गिरफ्तारी के कारणों को जानने का अधिकार है। गिरफ्तारी के कारणों की जानकारी दिए बिना किसी व्यक्ति की अभिरक्षा में निरुद्ध नहीं रखा जायेगा।

(ii) कोई ऐसा अपराध जो हमला (assault) या आपराधिक बल का प्रयोग या रिष्टि (mischief) से सम्बन्धित है;

(iii) आपराधिक अभित्रास (Criminal intimidation) का कोई अपराध;

(iv) कोई अन्य अपराध जिससे शंति भंग हुई है या जिसके कारण शांति भंग होने की संभावना है, या जिसके बारे में यह जानकारी थी कि उसमें शांति भंग होने की सम्भावना है।

या किसी ऐसे अपराध के दुष्प्रेरण (abetting) के लिए दोष सिद्ध ठहराता है और उसकी यह राय है कि वह आवश्यक है कि शांति कायम रखने के लिये ऐसे व्यक्ति से प्रतिभूति ली जाए, तब न्यायालय ऐसे व्यक्ति को दण्डादेश देते समय अधिकतम तीन वर्ष तक की अवधि के लिए शांति कायम रखने के लिए, प्रतिभूति सहित या रहित बन्ध-पत्र निष्पादन करने की मांग कर सकता है।

धारा 106 के अन्तर्गत शांति कायम रखने का आदेश अपीलीय न्यायालय द्वारा भी दिया जा सकता है। अपील में अगर मुख्य सजा का आदेश अपास्त (set aside) कर दिया जाता है तो वैसी अवस्था में धारा 106 के तहत बन्ध-पत्र देने का आदेश भी शून्य हो जाता है। अपीलीय न्यायालय को यह शक्ति प्राप्त है कि वह मुख्य सजा को बहाल रखते हुए धारा 106 के तहत मजिस्ट्रेट द्वारा शांति कायम रखने हेतु दिये गए आदेश को अपास्त कर सकता है। (I.L.R. 30 Cal. 101)

धारा 107 के अन्तर्गत कार्यपालक मजिस्ट्रेट (Executive Magistrate) को शांति कायम रखने के लिए प्रतिभूति (Bond) मांगने का अधिकार प्रदान किया गया है। इस धारा के अन्तर्गत जब किसी कार्यपालक मजिस्ट्रेट को यह सूचना मिलती है कि कोई व्यक्ति शांति भंग करेगा या लोक शांति विक्षुब्ध होगी तब यदि उसकी राय में कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार है तो वह ऐसे व्यक्ति से कारण पूछ सकता है कि उससे एक वर्ष या उसे कम की अवधि के लिए, जितनी मजिस्ट्रेट नियत करना ठीक समझें, शांति कायम रखने के लिए, उसे बन्ध-पत्र निष्पादित करने के लिए आदेश क्यों न दिया जाए।

धारा 107 के अधीन कार्यवाही किसी कार्यपालक मजिस्ट्रेट द्वारा तय की जा सकेगी। यदि वह स्थान जहाँ शांति भंग होने की आशंका हो और यह उसकी स्थानीय अधिकारिता के अन्दर हो तथा उसे दी गयी सूचना के आधार पर इस बात का पूर्ण विश्वास हो कि शांति भंग होने की पूरी संभावना है तो धारा 107 की कार्यवाही के लिए यह पर्याप्त आधार है।

किसी व्यक्ति की वारंट के साथ या बगैर वारंट के गिरफ्तारी के सम्बन्ध में विधि के विभिन्न प्रावधान

किसी व्यक्ति की गिरफ्तारी के लिये दण्ड प्रक्रिया संहिता के अन्तर्गत दो प्रकार के उपबन्ध किये गये हैं। एक वारंट पर गिरफ्तारी दूसरा बिना वारंट की गिरफ्तारी।

वारंट के द्वारा गिरफ्तारी का प्रावधान अधिनियम की धारा 70 से 81 तक में किया गया है। धारा 70 में गिरफ्तारी के वारंट का प्रारूप तथा उसकी अवधि के बारे में उपबन्ध दिये गये हैं। गिरफ्तारी के लिये जारी किया गया ऐसा प्रत्येक वारंट लिखित रूप में होगा तथा न्यायालय के पीठासीन अधिकारी द्वारा हस्ताक्षरित एवं मुद्रांकित होगा। धारा 71 के अनुसार ऐसा वारंट जमानतीय भी हो सकता है। धारा 72 के अनुसार वारंट पुलिस अधिकारी को निर्दिष्ट किया जायेगा। परंतु पुलिस अधिकारी यदि तुरंत उपलब्ध न हो तो न्यायालय किसी व्यक्ति की गिरफ्तारी के लिए किसी अन्य व्यक्ति को भी निर्दिष्ट कर सकता है। धारा 73 के अनुसार, मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट या प्रथम वर्ग का मजिस्ट्रेट किसी व्यक्ति की गिरफ्तारी के लिये वारंट को किसी भी व्यक्ति को निर्दिष्ट कर सकता है। धारा 74 के अनुसार, किसी पुलिस अधिकारी को निर्दिष्ट वारंट का निष्पादन किसी अन्य ऐसे पुलिस अधिकारी द्वारा भी किया जा सकता है जिसका नाम वारंट पर उस अधिकारी द्वारा पृष्ठांकित किया जाता है। धारा 75 के अनुसार, पुलिस अधिकारी या अन्य व्यक्ति गिरफ्तारी करते समय वारंट के सार की सूचना देगा। धारा 77 के अनुसार, गिरफ्तारी का वारंट भारत के किसी स्थान में निष्पादित किया जा सकता है। धारा 78 में न्यायालय की अधिकारिता से बाहर वारंट के निष्पादन का तरीका बताया गया है। धारा 80 के अन्तर्गत अधिकारिता के बाहर वारंट पर गिरफ्तार किये गये व्यक्ति की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है।

बिना वारंट के गिरफ्तारी का प्रावधान दण्ड प्रक्रिया संहिता की 41, 42 एवं 151 के अन्तर्गत किया गया है।

धारा 41 के अनुसार, कोई पुलिस पदाधिकारी बिना वारंट के ऐसे व्यक्ति को गिरफ्तार कर सकता है–

(i) जो किसी संज्ञेय अपराध से जुड़ा हुआ है या जिसके विरुद्ध उचित परिवाद किया जा चुका है या युक्ति–युक्त संदेह विद्यमान है कि वह किसी अपराध से सम्बन्धित है।

(ii) जो अपने पास गृह भेदन का उपकरण रखता है तथा इसे रखने का उनके पास विधिपूर्ण कारण नहीं है।

(iii) जो अपराधी घोषित किया जा चुका है।

(iv) जिसके कब्जे में कोई ऐसी चीज पाई जाती है जिससे चुराई हुई सम्पत्ति होने का युक्ति–युक्त संदेह किया जा सकता है।

(v) जो कोई पुलिस अधिकारी को उसके कर्तव्य के पालन में बाधा पहुँचाता है या विधिपूर्ण अभिरक्षा से निकल भागा है।

(vi) जिस पर भारतीय सेनाओं के किसी भी अंग के सशस्त्र बलों में से छोड़कर भाग जाने का उचित संदेह है।

(vii) जो कोई भारत से बाहर किसी भी स्थान में कोई ऐसा कार्य करता है जिसे यदि भारत में किया गया होता तो अपराध के रूप में दण्डनीय होता, के सम्बन्ध में ऐसा कार्य करने का उचित संदेह है।

(viii) दूसरे थाने से मौखिक या लिखित गिरफ्तार करने का रिक्यूजिशन प्राप्त करता है। धारा 42 के अनुसार, जब कोई ऐसा व्यक्ति जिसने पुलिस अधिकारी की उपस्थिति में असंज्ञेय अपराध किया है या जिस

पर पुलिस अधिकार की उपस्थिति में असंज्ञेय अपराध करने का आरोप लगाया गया है तो उसे अधिकारी द्वारा मांगे जाने पर यदि वह गलत पता बताता है या बताने से इन्कार करता है।

धारा 151 के अनुसार, पुलिस अधिकारी को जब किसी संज्ञेय अपराध करने की साज़िश का पता चलता है तो ऐसी अवस्था में पुलिस बिना वारंट के गिरफ्तार कर सकती है।

गिरफ्तार व्यक्ति के अधिकार-गिरफ्तारी के कारण को जानने का अधिकार, अपराध अगर जमानतीय है तो जमानत देकर स्वयं को निरुद्ध से मुक्ति पाने का अधिकार, गिरफ्तार किए गए व्यक्ति को अपनी पसंद का वकील रखने का अधिकार, गिरफ्तार किये गये व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक निरुद्ध न किया जाए, गिरफ्तार किये गये व्यक्ति को पुलिस 24 घंटे से अधिक निरुद्ध नहीं कर सकती है। गिरफ्तार व्यक्ति मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किये जाने के समय या अभिरक्षा के दौरान किसी भी समय अपने शरीर की परीक्षा के लिये जो उसके द्वारा किसी अपराध को नहीं किये जाने को साबित कर सकता है, कह सकता है।

सामान्यत: एक पुलिस अधिकारी बिना वारंट के किसी व्यक्ति को गिरफ्तार नहीं कर सकता है। वह गिरफ्तार तभी कर सकता है जब उसे ऐसा करने का मजिस्ट्रेट द्वारा वारंट मिला हो। परन्तु कानून एवं शांति-व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 41, 42 एवं 151 में कुछ ऐसे अपवाद हैं जहाँ पुलिस बिना वारंट के भी गिरफ्तार कर सकती है। इस सम्बन्ध में **वीरभद्र प्रताप सिंह बनाम जिलाधिकारी आज़मगढ़ (A.I.R. 1959 384 at page 386)** के वाद में यह मत व्यक्त किया गया है कि बिना वारंट की गिरफ्तारी तभी की जानी चाहिए जहाँ मजिस्ट्रेट ने गिरफ्तार करने के आदेश प्राप्त करने में अनावश्यक विलम्ब हो तथा जिससे गिरफ्तार करने का उद्देश्य विफल हो जाए।

पुलिस ऑफिसर अगर सदभावना एवं विश्वासपूर्वक अपना कार्य करते हैं तो उसे कानून का संरक्षण प्राप्त होगा। **(Bhawoo Jivaji v/s Mulji Dyal I.L.R. 12 Bom. 377)** परन्तु पुलिस ऑफिसर अगर अपना कार्य सदभावनापूर्वक नहीं करते हैं तो उसे कानून का संरक्षण प्राप्त नही होगा। **(Sheo Surun 10 W.R. (Cr.) 20)**

धारा 41 के बिना वारंट के गिरफ्तारी का प्रावधान (Exhaustive) नहीं है। इस धारा के अतिरिक्त पुलिस बिना वारंट के Arms Act, Explosive Act इत्यादि के तहत भी गिरफ्तार कर सकती है।

धारा 41 के अनुसार, कोई पुलिस अधिकारी मजिस्ट्रेट के आदेश के बिना और वारंट के बिना किसी ऐसे व्यक्ति को गिरफ्तार कर सकता है-

(1) जो किसी संज्ञेय अपराध से जुड़ा है या जिसके विरुद्ध उचित परिवाद किया जा चुका है या विश्वसनीय सूचना प्राप्त हो चुकी है कि युक्ति-युक्त सन्देह विद्यमान है कि वह किसी अपराध से सम्बन्धित है।

(2) जो अपने कक्ष में गृह भेदन का उपकरण रखता है तथा इसे रखने का उसके पास कोई विधिपूर्ण कारण नहीं है।

(3) जो दण्ड प्रक्रिया संहिता के अधीन या राज्य सरकार के द्वारा अपराधी उद्घोषित किया जा चुका है।

(4) जिसके कब्जे में कोई ऐसी चीज पायी जाती है, जिसके चुराई हुई सम्पत्ति होने का युक्ति-युक्त सन्देह किया जा सकता है और जिस पर ऐसी चीज के सम्बन्ध में अपराध करने का उचित रूप से संदेह किया जा सकता है।

(5) जो कोई पुलिस पदाधिकारी को उसके कर्तव्य के पालन के समय बाधा पहुँचाता है या जो विधिपूर्ण अभिरक्षा से निकल भागा है या निकल भागने का प्रयत्न कर रहा है। या

(2) धारा 437 की उपधारा (2) के अन्तर्गत यह उपबन्धित किया गया है कि मामले के अनुसंधान, जाँच या विचारण के दौरान यदि न्यायालय को यह प्रतीत होता है कि यह विश्वास करने का कोई उचित आधार नहीं है कि अभियुक्त ने अज़मानतीय अपराध किया है तो वैसी परिस्थिति में अभियुक्त को मामले के विचाराधीनता के दौरान जमानत पर रिहा किया जा सकता है।

(3) धारा 437 की उपधारा (3) के अन्तर्गत यह उपबनित किया गया है कि जब किसी व्यक्ति पर सात वर्ष या उससे अधिक का कोई दण्डनीय अपराध या भारतीय दण्ड संहिता के अध्याय 6, 16 या 17 के अधीन कोई अपराध करने या ऐसे किसी अपराध का दुष्प्रेरण का षड्यंत्र या प्रयत्न करने का अभियोग या संदेह है तथा न्यायालय धारा 437 की उपधारा (1) के अधीन जमानत पर रिहा करने का आदेश देता है तो ऐसे आदेश में न्यायालय निम्नलिखित शर्त भी लगा सकता है–

(i) वह व्यक्ति Cr. P.C. के अध्याय xxxiii के अधीन निष्पादित बंध–पत्र की शर्त के अनुसार हाजिर होगा, अथवा

(ii) यह सुनिश्चित करने के लिये कि ऐसा व्यक्ति उस अपराध जैसा, जिसे करने का उस पर अभियोग या संदेह है, कोई अपराध नहीं करेगा अथवा

(iii) न्याय के हित में कोई भी ऐसी शर्त जिसे न्यायालय ठीक समझे।

(4) धारा 437 की उपधारा (6) के अन्तर्गत यह उपबन्धित किया गया है कि यदि मजिस्ट्रेट द्वारा विचारणीय किसी मामले में ऐसे व्यक्ति का विचारण जो किसी अज़मानतीय अपराध का अभियुक्त है उसे मामले में साक्ष्य लेने के नियत प्रथम तारीख से 60 दिनों के अन्दर अगर विचारण समाप्त नहीं होता है तो ऐसा व्यक्ति उस सम्पूर्ण अवधि के दौरान कारावास में रहा है तो न्यायालय कारणों को लेखबद्ध करते हुए उसे जमानत पर रिहा करने का आदेश दे सकता है।

(5) धारा 437 की उपधारा (7) के अन्तर्गत यह उपबन्धित किया गया है कि यदि अज़मानतीय अपराध के अभियुक्त के विचारण के समाप्त होने के परन्तु निर्णय दिये जाने के पूर्व न्यायालय की यह राय है कि अभियुक्त अपराध का दोषी नहीं है तो वह अभिरक्षा में रहे अभियुक्त को जमानत पर निर्णय सुनने के लिये रिहा कर सकता है।

दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 437 के अन्तर्गत जमानत पर रिहा किये जाने के सम्बन्ध में **मजहब बनाम राज्य Cr. L.J. 1223 (J&K)** के मामले में न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है कि इस धारा के अन्तर्गत जमानत पर रिहा करने के आदेश पारित करने के समय न्यायालय को निम्नलिखित तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए–

(i) अभियोग की प्रकृति (ii) अभियोग के समर्थन में साक्ष्य की प्रकृति (iii) दण्ड की गंभीरता (iv) अभियुक्त द्वारा जमानत के दुरुपयोग को खतरा (v) अभियुक्त की उम्र, स्वास्थ्य एवं लिंग (vi) अभियुक्त एवं अभियोगी की सामाजिक स्थिति (vii) क्या अभियुक्त को रिहा करने से न्याय नैराश्य में चला जाएगा?

धारा 438 के अन्तर्गत उपबन्ध

जब किसी व्यक्ति को किसी मामले में गिरफ्तारी की आशंका होती है तो वह व्यक्ति धारा 438 के अंर्तगत पूर्व अनुमानित जमानत के लिए सेशन न्यायालय या उच्च न्यायालय में जमानत की अर्जी पेश कर सकता है। इस धारा के अंतर्गत यह उपबन्धित किया गया है कि जब किसी व्यक्ति को यह विश्वास करने का कारण है कि हो सकता है कि उसे किसी अज़मानतीय अपराध में ग्रिरफ्तार कर लिया जाए तो वैसी अवस्था में वह इस धारा के अधीन गिरफ्तार होने की स्थिति में जमानत पर रिहा करने के निर्देश जारी करने के लिये सेसन न्यायालय या फिर उच्च न्यायालय में जमानत की अर्जी दायर कर सकता है और न्यायालय अगर यह समझता है कि ऐसे मामले में जमानत पररिहा करने का निर्देश दिया जाना चाहिए तो

(क) किसी ऐसे व्यक्ति को जिस पर किसी अपराध का अभियोग है और जो अभिरक्षा में है, ज़मानत पर छोड़ दिया जाए और यदि अपराध धारा 437 की उपधारा (3) मे विनिर्दिष्ट प्रकार का है, तो वह ऐसी कोई शर्त, जिसे वह उस अपराध में वर्णित प्रयोजनों के लिए आवश्यक समझे, अधिरोपित कर सकता है;

(ख) किसी ऐसे व्यक्ति को जमानत पर छोड़ते समय मजिस्ट्रेट द्वारा अधिरोपित कोई शर्त अपास्त या उपांतरित (modified) कर दी जाए,

परन्तु उच्च न्यायालय या सत्र न्यायालय किसी ऐसे व्यक्ति की, जो ऐसे अपराध का अभियुक्त है जो केवल सत्र न्यायालय द्वारा विचारणीय है या जो यद्यपि इस प्रकार विचारणीय नहीं है, आजीवन कारावास से दण्डनीय है, जानत के पूर्व, जमानत के लिए आवेदन की सूचना लोक अभियोजक को उस दशा के सिवाय देगा जब उसको ऐसे कारणों से, जो लेखबद्ध किये जाएंगे, यह राय है कि ऐसी सूचना देना व्यावहारिक नहीं है।

(2) उच्च न्यायालय या सत्र न्यायालय किसी ऐसे व्यक्ति को जिसे द०प्र०सं० के अध्याय xxxiii के अधीन ज़मानत पर छोड़ा जा चुका है, गिरफ्तार करने का निर्देश दे सकता है और उसे अभिरक्षा के लिए सुपुर्द कर सकता है।

दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 439 के अन्तर्गत ज़मानत मंजूर करते समय न्यायालय साक्ष्य के विवरण को इतनी दूर तक नहीं देखेगा कि क्या यह अभियुक्त के अपराध को बिना किसी सन्देह के युक्ति-युक्त रूप से प्रमाणित कर देगा। (Immamuddin v/s state 1993 (3) Cr. L.R. 564 (Del))

एक अन्य मामले में (Noor Mohammad v/s State of U.P. 1994 All L.J. 50 (All) यह मत व्यक्त किया गया है कि जमानत मंजूर करते समय उच्च न्यायालय या सत्र न्यायालय को प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुरूप न्यायिक विवेकाधिकर का प्रयोग करना चाहिए। अपने न्यायिक विशेषाधिकार के प्रयोग में न्यायालय को इस बात की जाँच करनी चाहिए कि-

(i) अगर ज़मानत पर अभियुक्त को रिहा किया जाता है तो क्या उसके फरार होने की संभावना है।

(ii) अगर ज़मानत पर अभियुक्त को रिहा किया जाता है तो क्या वह इसका दुरुपयोग कर सकता है।

इसका उत्तर अगर सकारात्मक है तो ज़मानत नामंजूर करना चाहिए और अगर उत्तर नकारात्मक है तो ज़मानत पर रिहा करना चाहिए।

3.6. अग्रिम जमानत (Anticipatory Bail)

जब किसी व्यक्ति को युक्ति-युक्त इस बात की आशंका हो कि उसे किसी गैर-जमानतीय अपराध में गिरफ्तार कर लिया जायेगा और ऐसी गिरफ्तारी होने की यक्ति-युक्त आशंका के आधार पर जब वह जमानत पर रिहा करने का कोई आवेदन देता है और न्यायालय उस आवेदन पर जब उसकी गिरफ्तारी की स्थिति में जमानत पर उसे छोड़ देने का आदेश जारी करता है तो ऐसे आदेश को पूर्व अनुमानित जमानत कहा जाता है।

पूर्व अनुमानित जमानत का प्रावधान दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 438 में किया गया है।

दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 438 के अनुसार, जब किसी व्यक्ति को किसी अज़मानतीय अपराध में गिरफ्तार होने की युक्ति-युक्त आशंका है तो वह इस धारा के अधीन उच्च न्यायालय या सत्र न्यायालय को जमानत के लिए आवेदन दे सकता है कि उनकी गिरफ्तारी की स्थिति में उसे ज़मानत पर छोड़ दिया जाए।

न्यायालय पूर्व अनुमति जमानत देते समय निम्नलिखित तथ्यों पर विचार करेगा-

(i) अभियोग की प्रकृति की संभावना;

(ii) प्रार्थी के पूर्व की गतिविधि कि क्या पहले वह कभी न्यायालय द्वारा दण्डित किया गया था या जेल गया था:

(iii) प्रार्थी के फरार होने की संभावना;

(iv) प्रार्थी पर लगाया गया अभियोग उसके गिरफ्तारी पर उसे अपमानित करने के लिये तो नहीं लगाया गया है।

यह सामान्य जमानत के प्रावधान से भिन्न होता है। सामान्य जमानत में अभियुक्त को न्यायालय के समक्ष उपस्थित होना पड़ता है अगर वह गिरफ्तार होकर नहीं आया है। परन्तु अग्रिम जमानत में न्यायालय में बिना उपस्थित हुए जमानत की अर्जी दायर की जाती है।

पूर्व अनुमानित जमानत की प्रार्थना अज़मानतीय अपराध के मामले में ही की जा सकती है। जमानतीय अपराध के मामले में धारा 438 लागू नहीं होता है। **(G. Muthuswami v/s state of Kerala 1980 Cr. L.J. 1012)**

पूर्व अनुमानित जमानत के मामले में उच्च न्यायालय या सत्र न्यायालय जमानत का निर्देश देते समय तथ्य को ध्यान में रखते हुए यदि उचित समझें तो निम्नलिखित निर्देश भी दे सकता है–

(i) यह शर्त कि वह व्यक्ति पुलिस अधिकारी द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्नों का उत्तर देने के लिए जैसे और जब अपेक्षित हो उपलब्ध होगा,

(ii) यह शर्त कि वह व्यक्ति उस केस से अवगत किसी व्यक्ति की न्यायालय या किसी पुलिस अधिकारी द्वारा तथ्यों के सम्बन्ध में जानकारी के लिए पूछे जाने पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से तथ्यों को प्रकट न करने के लिए कोई उत्प्रेरणा, धमकी या वचन नहीं देगा।

(iii) यह शर्त कि वह व्यक्ति न्यायालय की पूर्व अनुज्ञा के बिना भारत नहीं छोड़ेगा;

(iv) न्यायालय उपधारा 437 की उपधारा (3) को भी शर्त में आरोपित कर सकता है। ऐसे आदेश के पश्चात् जब पुलिस अधिकारी ऐसे अभियोग पर बिना वारंट के गिरफ्तार कर लेता है तो उसके द्वारा जमानत देने पर पुलिस उसे छोड़ देगी।

पूर्व अनुमानित ज़मानत के सम्बन्ध में **(State of Rajasthan v/s Balchand A.I.R. 1977 S.C. 2447) न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर** ने कहा कि पूर्व अनुमानित जमानत पर विचार करते समय दो आधारभूत सिद्धान्तों का ध्यान में रखना चाहिए–

(i) अभियुक्त के फरार होने की संभावना नहीं है।

(ii) अभियुक्त का ज़मानत पर रिहा होने में इसके दुरुपयोग की संभावना नहीं है।

इसके अतिरिक्त प्रार्थी का पूर्व का लेखा–जोखा तथा उसकी हैसियत को भी ध्यान में रखना चाहिए।

इस मामले में न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर ने एक सामान्य नियम को बताते हुए कहा है कि "Bail and not jail.

3.7. आरोप (Charge)

आरोप (Charge) अभियुक्त के विरुद्ध गए गये इल्ज़ाम की एक सूचना है जिसका उद्देश्य है कि अभियुक्त को इस बात की जानकारी हो कि उसके विरुद्ध किस इल्ज़ाम के लिए मुकदमा चलाया जा रहा है ताकि वह इसका खण्डन करने में समर्थ हो सके। अगर अभियुक्त को अपने लगाये गये आरोप की जानकारी नहीं है तो वह अपनी ओर से सफाई पेश करने में समर्थ नहीं हो सकता है। यही कारण है कि

मुकदमें की कार्यवाही शुरू होने से पहले अभियुक्त को आरोप पढ़कर सुनाया जाता है। आरोप की परिभाषा दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 2 (b) में इस प्रकार की गई है, ''आरोप के अन्तर्गत, जब आरोप में एक से अधिक शीर्ष हों, आरोप का कोई भी शीर्ष सम्मिलित है।'' इस प्रकार आरोप में जब एक से अधिक शीर्ष (Head) हो तो प्रत्येक शीर्ष आरोप कहलाता है। चार्ज अभियुक्त के विरुद्ध लगाये गये विशिष्ट अभियोग का एक संक्षिप्त सारांश है जिसे कि अभियुक्त विचारण के प्रारम्भ में जानने का हकदार है। **(A.I.R. 1948 Sind 40)**

आरोप की अन्तर्वस्तु तथा प्रारूप–दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 211 के अन्तर्गत आरोप का वर्णन इस प्रकार से किया गया है–

1. इस संहिता के अधीन प्रत्येक आरोप में उस अपराध का कथन होगा जिसका अभियुक्त पर आरोप है।

2. यदि उस आरोप का सृजन करने वाली विधि द्वारा उसे कोई खास नाम दिया गया है तो आरोप में उसी नाम से उस अपराध का वर्णन किया जाएगा।

3. यदि उस अपराध का सृजन करने वाली विधि द्वारा उसका कोई निश्चित नाम नहीं दिया गया है तो अपराध की इतनी परिभाषा देनी होगी जितनी से अभियुक्त को उस तथ्य की सूचना हो जाए जिसका उस पर आरोप है।

4. आरोप में अपराध से सम्बन्धित धारा का भी उल्लेख आवश्यक है।

5. यह तथ्य कि आरोप लगा दिया गया है, इस कथन के समतुल्य है कि विधि द्वारा अपेक्षित प्रत्येक शर्त जिससे आरोपित अपराध बनता है, उस विशिष्ट मामले में पूरी हो गई है।

6. आरोप न्यायालय की भाषा में लिखा जाएगा।

7. यदि अभियुक्त किसी अपराध के लिए पहले सजावार हुआ है तो पश्चात्वर्ती अपराध के लिए उस पूर्व दोष सिद्धि के कारण अधिक दण्ड का या भिन्न प्रकार के दण्ड का वह भागी है, और ऐसा आशय है कि ऐसी पूर्व दोषसिद्धि उस दण्ड को प्रभावित करने के प्रयोजन के लिए साबित हो जाए जिसे न्यायालय पश्चात्वर्ती अपराध के लिए देना ठीक समझे तो पहले दोषसिद्धि के तथ्य, तारीख और स्थान आरोप में कथित होंगे।

आरोप की विशिष्टियाँ–दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 212 के अनुसार –

1. अभिकथित अपराध के समय और स्थान का वर्णन जिससे कि अभियुक्त को उस बात की जिसका उस पर आरोप है, पूर्ण जानकारी प्राप्त हो।

2. जब अभियुक्त पर आपराधिक न्यास भंग या बेईमानी से धन या अन्य जंगम सम्पत्ति के दुर्विनियोग का आरोप है तब विशिष्ट मदों का जिनके विषय में अपराध किया गया है या अपराध करने की ठीक–ठीक तारीखों का वर्णन किये बिना, यथास्थिति उस सकल राशि का वर्णन या उस जंगम सम्पत्ति का वर्णन कर दिया जाता है जिसके विषय में अपराध अभिकथित है औ उन तारीखों का जिनके बीच में अपराध का किया जाना अभिकथित है, वर्णन कर दिया जाता है।

धारा 213 के अनुसार, जब अपराध इस प्रकार का है कि धारा 211 और 212 में वर्णित 'विशिष्टियाँ, अभियुक्त को उस बात की जिसका उस पर आरोप है, पर्याप्त सूचना नहीं देती तब उस रीति की, जिसमें अभिकथित अपराध किया गया है, ऐसी विशिष्टियाँ भी, जैसी उस प्रयोजन के लिए पर्याप्त है, आरोप में वर्णित की जाएगी।

न्यायालय द्वारा आरोप का परिवर्तन किया जाना–दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 216 के अधीन न्यायालय को यह शक्ति प्रदान की गई है कि वह आरोप में परिवर्तन या परिवर्धन कर सकता है। ऐसा परिवर्तन या परिवर्धन न्यायालय निर्णय सुनाये जाने के पूर्व किसी भी समय कर सकता है।

आरोप में परिवर्तन या परिवर्धन के पश्चात् निम्नलिखित प्रकिया का अनुकरण किया जाएगा–

(1) आरोप के प्रत्येक परिवर्तन या परिवर्धन का अंश अभियुक्त को पढ़कर सुनाया तथा समझाया जाएगा।

(2) परिवर्तन या परिवर्धन न्यायालय की राय में ऐसा है कि विचारण को आगे चलाने से अभियुक्त को अपनी प्रतिरक्षा करने में या अभियोजन के मामले के संचालन में कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की संभावना नहीं है तो न्यायालय विचारों को ऐसे आगे चला सकता है कि मानो परिवर्तित या परिवर्धित आरोप ही मूल आरोप है।

(3) परिवर्तन या परिवर्धन न्यायालय की राय में ऐसा है जिससे अभियुक्त या अभियोजन पक्ष पर प्रतिकूल प्रभाव होगा तो न्यायालय नये रूप में विचारण का निर्देश देगा।

धारा 216 के अधीन आरोप में परिवर्तन या परिवर्धन के विषय में प्रीवी कौंसिल ने **ठाकुर शाह बनाम सम्राट (A.I.R. 1943 प्री० को० 192)** के मामले में यह मत व्यक्त किया कि ऐसे परिवर्तन या परिवर्धन से अभियुक्त के बचाव का अवसर प्रभावित नही होना चाहिए। इसी प्रकार उच्चतम न्यायालय ने **कान्तीलाल बनाम राज्य (A.I.R. 1970 S.C. 362)** के मामले में यह मत व्यक्त किया कि न्यायालय आरोप का परिवर्तन या परिवर्धन कर सकते हैं लेकिन इससे अपराध का मूल स्वरूप पूर्णत: नहीं बदला जाना चाहिए।

आरोप में गलतियों का प्रभाव–दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 215 के अन्तर्गत आरोप में गलतियों के कारण उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों के निवारण हेतु उपबन्ध दिये गये हैं। इस धारा के अनुसार आरोप में की गई गलतियों को तब तक तात्विक नहीं माना जायेगा जब तक कि अभियुक्त ऐसी गलती के कारण भुलावे में न पड़ जाए तथा उक्त भुलावे के कारण उसके साथ अन्याय हुआ हो। इस प्रकार ऐसे त्रुटिपूर्ण आरोप के आधार पर किये गये विचारण को तब तक दूषित नहीं माना जाएगा जब तक कि उक्त त्रुटिपूर्ण आरोप से अभियुक्त के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़ा हो।

दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 218 के अधीन एक सामान्य नियम यह बनाया गया है कि प्रत्येक सुभिन्न (distinct) अपराध के लिए अभियुक्त पर पृथक आरोप (charge) होगा तथा ऐसे प्रत्येक आरोप का विचारण (Trial) पृथक किया जाएगा। धारा 218 एक सामान्य नियम प्रतिपादित करता है कि प्रत्येक भिन्न अपराध का चार्ज अलग–अलग गठित किया जाना चाहिए। धारा 218 के अर्थ के अनुसार जहाँ दो ऐसा अपराध किया गया है जिसका एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है वहाँ वे दोनों अपराध अलग–अलग हैं। **(13 C.W.N. 100)** परन्तु दोनों अपराध अगर अन्तर्सम्बन्ध (inter-related) है तो दोनों अपराध अलग–अलग नहीं माने जायेंगे।

परन्तु धारा 218 के परन्तुक (Proviso) में उपर्युक्त नियम के अपवाद की व्यवस्था की गई है। इसके अनुसार यदि अभियुक्त सभी आरोपों के लिए एक साथ विचारण के लिए लिखित आवेदन देता है और न्यायालय की राय में भी ऐसा करना अभियुक्त के हित के प्रतिकूल नहीं है तो वैसी अवस्था में न्यायालय सभी आरोपों का विचारण का साथ कर सकता है।

धारा 219 में सामान्य नियम के एक और अपवाद की व्यवस्था की ई है। इस धारा के अनुसार, जब किसी व्यक्ति पर 12 महीने के अन्दर एक ही किस्म के तीन अपराधों का अभियोग है तो वैसे व्यक्ति के विरूद्ध प्रत्येक अपराध के लिए अलग–अलग आरोप और अलग–अलग विचारण नहीं होकर एक ही आरोप गठित किया जाएगा और उन सबों का एक ही विचारण होगा।

धारा 220 (3) के अनुसार, विधि की अलग-अलग परिभाषाओं के अनुसार यदि किसी व्यक्ति के अभिकथित कार्यों से दो या दो से अधिक अपराध बनते हैं तो प्रत्येक ऐसे अपराध के लिए एक ही विचारण में आरोप गठित किया जाएगा।

धारा 220 (4) के अनुसार, यदि कई कार्य जिनमें से प्रत्येक स्वयं एक अपराध है, मिलकर एक भिन्न अपराध होता है तो ऐसे कार्यों से मिलकर बने अपराध के लिए और ऐसे कार्यों में से किसी एक या अधिक अपराध के लिए एक ही आरोप गठित किया जाएगा।

धारा 221 के अनुसार, यदि कई कार्य या कार्यों का क्रम इस प्रकार का है कि यह सन्देह है कि कौन-सा अपराध किया गया है तो अभियुक्त पर ऐसे सब अपराधों या उनमें से कोई एक करने का आरोप लगाया जा सकता है और इसका विचारण एक साथ किया जा सकता है।

धारा 223 में यह व्यवस्था की गई है कि निम्नलिखित व्यक्तियों पर एक साथ आरोप लगाया जा सकेगा और उनका एक साथ विचरण किया जएगा। **रामचन्द्र बनाम् जोगेन्दर सिंह (1982 Cr. L.J. 1714)** के मामले में यह मत व्यक्त किया गया है कि मामले के स्वतंत्र विचारण एक नियम है जबकि संयुक्त विचारण एक अपवाद है।

(क) वे सभी व्यक्ति जिन पर ही संव्यवहार के अनुक्रम में (in the course of the same transaction) किये गये एक ही अपराध का अभियोग है।

(ख) वे सभी व्यक्ति जिन पर किसी अपराध का अभियोग है और वे व्यक्ति जिन पर ऐसे अपराध का दुष्प्रेरण (abetment) या प्रयत्न (attempt) करने का अभियोग है।

(ग) वे सभी व्यक्ति जिन पर बारह मास की अवधि के अन्दर संयुक्त रूप में उनके द्वारा किये गये धारा 219 के अर्थ में एक ही किस्म के एक से अधिक अपराधों का अभियोग है।

(घ) वे सभी व्यक्ति जिन पर एक ही संव्यवहार (same transaction) के अनुक्रम में किये गये भिन्न-भिन्न अपराधों का अभियोग है।

(ड) वे सभी व्यक्ति जिन पर चोरी, उद्दीपन (extortion), छल, आपराधिक दुर्विनियोग (criminal misappropriation) का अभियोग है और वे व्यक्ति जिन पर ऐसी सम्पत्ति को प्राप्त करने में या रखने में अपराध करने का अभियोग हो।

(च) वे सभी व्यक्ति जिन पर चुराई सम्पत्ति के बारे में भारतीय दण्ड संहिता की धारा 411 एवं धारा 414 के अन्दर चोरी की सम्पत्ति लेने या व्यय करने का अभियोग हो।

दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 164 के अन्तर्गत संस्वीकृति को लेखबद्ध करने की प्रक्रिया

कोई भी संस्वीकृति जो पुलिस अधिकारी के समक्ष की जाती है, साक्ष्य में ग्राह्य नहीं होती है। इसका कारण है कि विधायिका ने अर्थात् कानून बनाने वालें ने पुलिस को इसके लिए विश्वसनीय पात्र नहीं समझा। उन्हें इस बात की आशंका थी कि यदि पुलिस को संस्वीकृति दर्ज करने की शक्ति दी जाती है तो पुलिस द्वारा उस शक्ति का दुरुपयोग किया जा सकता है। इस कारण दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 164 के तहत अनुसंधान के दौरान संस्वीकृति दर्ज करने हेतु सक्षम न्यायिक दण्डाधिकारी को शक्ति प्रदान की गई है। इस धारा के अन्तर्गत न्यायिक दण्डाधिकारी द्वारा संस्वीकृति दर्ज करने के लिए एक विशेष प्रक्रिया अपनायी गयी है।

धारा 164 के अन्तर्गत जाने वाली प्रक्रिया इस प्रकार है-

(i) संस्वीकृति केवल महानगर मजिस्ट्रेट अथवा न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा ही दर्ज किया जा सकता है;

(ii) संस्वीकृति अनुसंधान के दौरान किसी भी समय दर्ज किया जा सकता है।

(iii) संस्वीकृति दर्ज करने के पूर्व मजिस्ट्रेट संस्वीकृति करने वाले को यह बताएगा कि –

(a) वह ऐसी संस्वीकृति करने के लिए बाध्य नहीं है:

(b) यदि वह ऐसा करता है तो ऐसी संस्वीकृति के विरुद्ध साक्ष्य में उपयोग की जा सकती है।

(iv) कोई भी मजिस्ट्रेट ऐसी संस्वीकृति तब तक दर्ज नहीं करेगा जब तक कि संस्वीकृति करने वाले व्यक्ति से प्रश्न करने पर उसे यह विश्वास न हो जाए कि ऐसी संस्वीकृति स्वेच्छा से की जा रही है।

(v) संस्वीकृति पर संस्वीकृति करने वाला हस्ताक्षर करेगा तथा मजिस्ट्रेट संस्वीकृति लिखने के पश्चात् इस बात का ज्ञापन संलग्न करेगा कि उसने सारी प्रक्रियाओं का पालन किया है तथा उसे विश्वास है कि संस्वीकृति स्वेच्छा से ही गई है तथा जिस व्यक्ति ने संस्वीकृति की है, उसे पढ़कर सुना दी गई है तथा उसने उसका सही होना स्वीकार किया है। तत्पश्चात् मजिस्ट्रेट उस पर अपना हस्ताक्षर करेगा।

धारा 164 के द्वारा विहित प्रक्रिया के तहत दर्ज की गयी संस्वीकृति सारभूत साक्ष्य माना जाता है। संस्वीकृति के सही होने के आधार पर अभियुक्त को सजा दी जा सकती है। यद्यपि संस्वीकृति करने वाला बाद में ऐसी संस्वीकृति से मुकर सकता है, परन्तु विचारण न्यायालय को अन्य परिस्थितयों से यदि यह प्रतीत होता है कि अभियुक्त द्वारा धारा 164 के तहत की गई संस्वीकृति, स्वैच्छिक एवं सत्य है तो उसके आधार पर उसे सजा दी जा सकती है, चाहे बाद में अभियुक्त ऐसी संस्वीकृति से मुकर ही क्यों न गया हो।

3.8. भारतीय संविधान के अन्तर्गत अभियुक्त को प्रदत्त संरक्षण

(The Protection given an Accused by Indian Constitution)

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 20 के अन्तर्गत वैसे व्यक्तियों को जिन पर अपराध का अभियोग है, निम्नलिखित तीन तरीकों से सुरक्षा अधिकार के रूप में प्रदान करता है–

1. कार्येत्तर या घटनोत्तर विधियों से संरक्षण (Protection from expost facto law)–कार्येतर विधि या घटनोत्तर विधि वह विधि है जो उस कार्य के लिए दण्ड देती है जो कार्य करने के समय कानूनन अपराध नहीं था। यह वह विधि है जो पूर्व में किये गये कार्य को दोषी ठहराकर दण्ड देने का प्रावधान करता है। परन्तु संविधान का अनुच्छेद 20(1) ऐसी विधि के विरूद्ध अभियुक्तों को संरक्षण प्रदान करता है। इस अनुच्छेद के अनुसार किसी व्यक्ति को प्रचलित कानून के उल्लंघन के लिए ही दण्डित किया जा सकता है। पूर्व के अपराध के लिए बाद में कानून बनाकर उसे दण्डनीय घोषित नहीं किया जा सकता है। कहने का अर्थ यह है कि कार्य जिस समय किया गया, यदि वह उस समय अपराध नहीं था तो बाद में उसको अपराध घोषित नहीं किया जा सकता है। कार्येतर या घटनोत्तर विधि एक ऐसी विधि है जो अपराध के बाद लागू की जाती है तथा ऐसे कार्य को दण्डनीय घोषित करती है जो कार्य करने के समय अपराध नहीं था। अत: अनुच्छेद 20(1) ऐसे कानून को असंवैधानिक घोषित करता है तथा अभियुक्तों को ऐसी विधि के विरूद्ध संरक्षण प्रदान करता है।

अनुच्छेद 20 (1) का दूसरा भाग प्रचलित कानून में निर्धारित दण्ड की अवधि को बढ़ाकर अधिक दण्ड देने की व्यवस्था जिसका प्रभाव भूतलक्षी (Retrospactive) है, असंवैधानिक घोषित करता है। अर्थात कोई व्यक्ति उस दण्ड से अधिक का भागी नहीं होगा जो उस अपराध के करने के समय प्रचलित कानून के अधीन दिया जा सकता था।

अनुच्छेद 20 (1) भाग दो दण्ड वृद्धि का विरोधी है, दण्ड की अवधि को कम करने का नहीं। यदि कार्येतर विधि में अपराधी के लाभों के लिए कोई उपबन्ध लागू किया जाता है तो वह उस उपबन्ध का लाभ उठा सकता है। यदि किसी कार्येतर विधि में सजा की अवधि को घटा दिया जाता है तो वैसी अवस्था में अभियुक्त को अधिकार होगा कि वह लाभ ले।

2. दोहरे दण्ड से संरक्षण (Protection from double Jeopardy)–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 20 के खण्ड (3) के अनुसार, किसी भी व्यक्ति को एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक दण्डित नही किया जाएगा। यह उपबन्ध अंग्रेजी कॉमन लॉ के प्रसिद्ध सिद्धान्त Nemo debet vis Vexari पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी भी व्यक्ति को एक ही अपराध के लिए दो बार अभियोजित एवं दण्डित नहीं किया जा सकता है। अनुच्छेद 20 (2) के संरक्षण को पाने के लिए यह आवश्यक है कि अभियुक्त के विरूद्ध यदि एक अपराध के लिए अभियोग चलाया गया हो तथा दण्ड भी दिया गया हो तो दूसरा अभियोग भी उसी अपराध पर आधारित हो। अनुच्छेद 20 (2) के वहाँ लागू नहीं होगा जहाँ दूसरा अभियोजन किसी दूसरे अपराध के लिए चलाया जाता है। यह अनुच्छेद एक ही अपराध के लिए दो बाद दण्ड देने का निषेध करता है।

3. स्वयं अपराध-आरोपण से संरक्षण (Protection against self-incrimination)–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 20 (3) के अन्तर्गत अभियुक्त को इस बात का संरक्षण प्राप्त है कि उसे स्वयं अपने विरूद्ध गवाही देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। अभियुक्त के अपराध को प्रमाणित करने का भार अभियोजन पक्ष पर होता है। अत: स्वयं अभियुक्त को अपना अपराध कबूल करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। परन्तु अभियुक्त अगर अपनी इच्छा से अपने विरूद्ध साक्ष्य देता है तो ऐसी परिस्थिति में यह अनुच्छेद इसका विरोध नहीं करता है। यह अनुच्छेद उसी परिस्थिति में लागू होता है जबकि यह दिखाया जाये कि अभियुक्त पर उन्हीं के विरूद्ध साक्ष्य देने के लिए दबाव डाला गया।

3.9. बाल-अपराध (Juvenile Delinquency)

बाल-अपराध के बारे में सामान्य व्यक्तियों और कुछ सामाजिक वैज्ञानिकों के विचार अपर्याप्त, दोषपूर्ण और भ्रामक हैं। कई कारणों में से एक यह है कि वे यह मानते हैं कि बाल-अपराधी केवल अल्प-आयु के अपराधी हैं, अर्थात् वे गैर-वयस्क अपराधी या बालक है, जो ऐसे दोषों में लिप्त होते हैं जिनको यदि वयस्क कहते हैं तो अपराध समझा जाता है और जो देश के कानून द्वारा निर्धारित 7 और 16 या 18 वर्ष की आयु के हैं। 1986 के जूविनाइल जस्टिस एक्ट (Juvenile Justice act) के अनुसार आज बाल-अपराधियों की अधिकतम आयु लड़कों के लिए 16 वर्ष और लड़कियां के लिये 18 वर्ष है, परन्तु इससे पहले चिल्ड्रन एक्ट्स (Children Acts) के अनुसार यह विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न थी। उत्तर प्रदेश, गुजरात, केरल, महाराष्ट्र, पंजाब और मध्य प्रदेश जैसे राज्यों में यह 16 वर्ष थी, परन्तु बंगाल और बिहार जैसे राज्यों में यह 18 वर्ष थी। राजस्थान, असम और कर्नाटक जैसे राज्यों में यह लड़कों के लिए 16 और लड़कियों के लिए 18 वर्ष थी। फिर भी, आयु के अतिरिक्त अपराध की प्रकृति भी इतनी ही महत्वपूर्ण है।

युवा, जो भगोड़ापन/कर्मपलायन (trunancy), आवारागर्दी, व्यभिचार और बेलगामी (ungovernability) जैसे 'प्रतिस्थति सम्बन्धी दोषों' (status offences) में लिप्त हो हैं, वे भी बाल-अपराध की परिभाषा में आते हैं। न्यूमेयर, आइवन नाई और जेम्स शॉर्ट जूनियर, रिचर्ड जैन्किंस और वाल्टर रेकलेस ने भी बाल-अपराध की अवधारणा में 'व्यवहार के प्रकार'पर बल दिया है। वाल्टर रेकलेस (1956) के अनुसार बाल-अपराध शब्द का प्रयोग दण्ड संहिता के उल्लंघन एवं/या ऐसे व्यवहार के संरूपों के अनुसरण (pursuit) के लिये किया जाता है, जो बच्चों और कम आयु के किशोरों के लिये अनुचित माने जाते हैं। इस प्रकार आयु एवं व्यावहारिक उल्लंघन जो कानून में वर्जित हैं, दोनों ही बाल-अपराध की अवधारणा में महत्वपूर्ण हैं।

बाल-अपराधी और वयस्क अपराधी में अन्तर एकल कार्य (case-work) उपागम की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। दोनों में अन्तर आचरण, न्यायालय द्वारा प्रयोग किये गये तरीकों, निर्णय के बाद व्यक्ति की समाज में प्रतिष्ठा, यश और कानूनी अधिकारों से किया जाता है।

बाल-अपराधियों का वर्गीकरण (Classification of Juvenile Delinquents)

बाल-अपराधियों का वर्गीकरण विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न आधारों पर किया गया है। उदाहरणार्थ, हर्श (1937) ने उन्हें किये हुए अपराधों के प्रकार के आधार पर छह समूहों मे वर्गीकृत किया है-(1) असाध्यता (incorrigibility) (उदाहरण के लिये, देर से घर आना, आज्ञा उल्लंघन .....) (2) भगोड़ापन (घर या स्कूल से), (3) चोरी (छोटी चोरी से लेकर सशस्त्र लूटमार तक), (4) सम्पत्ति का ध्वंस (जिसमें सार्वजनिक और निजी दोनों सम्पत्तियाँ सम्मिलित हैं), (5) हिंसा (शस्त्रों का प्रयोग समाज के विरूद्ध करके), और (6) यौन अपराध (समलैंगिक कामुकता से लेकर बलात्कार तक)।

ईटॉन और पोक (Eaton and Polk : 1969) ने बाल-अपराधियों का अपराध के प्रकार के अनुसार पाँच समूहों में वर्गीकरण किया है। ये अपराध हैं : (1) छोटे उल्लंघन (जिनमें उपद्रवी आचरण और यातायात नियमों के छोटे उल्लंघन सम्मिलित हैं), (2) यातायात नियमों के भारी उल्लंघन (जिनमें मोटरों की चोरियाँ सम्मिलित हैं), (3) सम्पत्ति के उल्लंघन, (4) व्यसन (जिनमें शराबीपन और मादक पदार्थों की लत सम्मिलित है), और (5) शारीरिक चोट (जिसमें मानव-हत्या और बलात्कार सम्मिलित है)।

रॉबर्ट ट्रोजेनोविज़ (Robert Trojanowicz, 1973 : 59) ने बाल-अपराधियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है: आकस्मिक (accidental), असमाजीकृत (unsocialized), आक्रामक, नियमित (occasional), पेशेवर और संगठित गिरोह वाले।

मनोवैज्ञानिकों ने बाल-अपराधियों की व्यक्तिगत विशेषज्ञों या उनके व्यक्तित्व की मनोवैज्ञानिक गतिकी (psychological dynamics) के आधार पर पाँच समूहों में वर्गीकरण किया है-मानसिक रूप से दोषपूर्ण (mentally defective), मानसिक रोग से पीड़ित (psychotic), नाड़ी रोग से पीड़ित (neurotic), परिस्थितिजन्य (situational) और सांस्कृतिक।

विशेषताएँ (Characteristics)

भारत में बाल-अपराध की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएं निम्नांकित हैं :

(1) अपराध की दरें लड़कियों की अपेक्षा लड़कों में बहुत अधिक हैं, अर्थात् लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा कम अपराध करती हैं। 1987 तक बाल-अपराध में सम्मिलित लड़कियों की प्रतिशतता लगभग 6.0% से 7.0% थी। यह 1988 में बालकों की परिभाषा के परिवर्तन, जिसमें केवल 16-18 वर्षों के आयु-समूह की ही लड़कियों को बालक माना गया है, के कारण सहसा बढ़ गई। यदि हम इससे पूर्व के वर्षों के आंकड़े लें और नई परिभाषा की श्रेणी की लड़कियों की प्रतिशतता की गणना करें तो वह 13.11% आती है जो 1988 के 13.4% की तुलना में अनुकूल है। इस प्रकारआज के आंकड़ों के अनुसार लड़कों और लड़कियों की कुल गिरफ्तारियों का अनुपात 6.4 : 1 हैं।

(2) अपराध की दर प्रारम्भ की किशोरवस्था (12-16 वर्षों का आयु-समूह) में सबसे ऊँची है। 1987 में बाल-अपराध की आयु की नई परिभाषा किये जाने के समय से अब चार-पंचम अपराधी (81.0%) 12-16 वर्षों के आयु समूह में आते हैं। इससे पहले (1978 और 1987 के बीच) यह पाया गया कि अपराधियों की एक बड़ी संख्या (711.0%) 18-21 वर्षों (उत्तर किशोरावस्था) के आयु-समूह में थी, 15.0% 16-18 वर्षों के आयु-समूह में, 9.0% 12-16 वर्षों के आयु-समूह में, और 5.0% 7-12 वर्षों के आयु-समूह में थी। अब इन दोनों आय समूहों की प्रतिशतता का हिस्सा बदल गया है। अब 9.0% 7-12 वर्षों के आयु-समूह और 10.0% 16-18 वर्षों के आयु समूह में हैं (1991 : 141)। 12-16 वर्षों के आयु-समूह का हिस्सा 1978-87 में 10.0% से 1988 में बढ़कर 81.0% हो गया क्योंकि 1988 से 18-21 वर्षों का आयु समूह बालक श्रेणी के दायरे से बाहर चला गया।

(3) बाल-अपराध एक ग्रामीण तथ्य होने की अपेक्षा नगरीय तथ्य अधिक है। देहली, बंबई, मद्रास, कलकत्ता, अहमदाबाद और बैंगलोर जैसे महानगर छोटे शहरो और कस्बों की अपेक्षा अधिक बाल-अपराधी उत्पन्न करते हैं।

(4) गिरफ्तारी के समय लगभग दो-तिहाई (64.0%) अपराधी अपने माता-पिता के साथ रहते हुए पाये गये हैं, लगभग एक-चौथाई (23.0%) अपने अभिभावकों के साथ और शेष (13.0%) बेघर होते हैं (1991 : 150)। यह बाल-अपराध में पारिवारिक वातावरण के महत्व को दिखलाता है।

(5) लगभग दो-पंचम (42.0%) बच्चे निरक्षर होते हैं, आधे (52.0%) प्राथमिक मिडिल और सेकन्डरी कक्षाएँ पास किये होते हैं, और बहुत ही कम संख्या (6.0%) हाईस्कूल स्तर और उसके आगे शिक्षित होते हैं। इस प्रकार अधिकांश अपराधी निरक्षर और कम शिक्षित होते हैं।

(6) लगभग तीन-पंचम (57.0%) अपराधी ऐसे घरों से आते हैं जिनकी आय 500 रुपये प्रतिमाह से कम होती है (यानि अत्यन्त निर्धनवर्ग), लगभग एक-चौथाई (27C0%) ऐसे घरों से आते हैं जिनकी आय 501 और 1000 रुपये प्रतिमाह के बीच होती है (यानि निर्धन वर्ग), लगभग एक दशम (9.0%) ऐसे घरों से जिनकी आय 1001 और 2000 रुपये के बीच प्रतिमाह होता है (यानि निम्न मध्यम वर्ग), और एक बहुत छोटी संख्या (5.0%) ऐसे घरों से जिनकी आय 2001 और 3000 रुपये के बीच प्रतिमाह (यानि उच्च मध्यम वर्ग) और 3000 रुपये प्रतिमाह से अधिक (2.0) (यानि उच्च वर्ग) (1991 : 151) होती है। इससे यह प्रदर्शित होता है कि बाल-अपराध निम्न वर्ग में अधिक घटित होता है। हमारे देश में बाल-अपराध और उसका सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्ध पर हुए सभी अध्ययन (रतनशा, हन्सा सेठ, सुशील कुमार और ए०सी० वर्मा) यह बताते हैं कि सबसे निम्न स्तर पर होने वाले व्यक्तियों में अपराध की दरें उससे उँची होती हैं। इसकी सत्यता की सीमा विभिन्न परिस्थितियों में घटती बढ़ती है।

(7) बाल-अपराधियों में चार-पंचम से अधिक प्रथम अपराधी होते हैं और केवल एक-दशम के लगभग अपराध व्यसनी या पुराने अपराधी होते हैं। 1981 और 1991 के बीच का औसत यह बतलाता है कि 87.0% नये अपराधी थे।

(8) अधिकांश अपराध समूहों में किये जाते हैं। अमरीका में भी शॉ और मैके ने अपने अध्ययन में पाया कि अपराध करते समय 90.0% बच्चों के साथ उनके साथी थे।

(9) यद्यपि समूहों में अधिक अपराध किये जाते हैं, परन्तु हमारे देश में ऐसे बच्चों के गुटों की संख्या जिन्हें संगठित वयस्क अपराधियों का समर्थन प्राप्त है, अधिक नहीं है।

प्रकार (Types)

बाल-अपराध विभिन्न ढंग के आचरण या व्यवहार के तरीके प्रदर्शित करता है। संरूपों में प्रत्येक का अपना सामाजिक संदर्भ होता है,कारण होते हैं जो तथाकथित रूप से उसे उत्पन्न करते हैं और प्रत्येक संरूप के लिये उसके रोकने या उपचार हेतु उपयुक्त तरीके सुझाये जाते हैं। हावर्ड बेकर (1966 : 226-38) ने बाल-अपराध के चार प्रकारों का उल्लेख किया है: (अ) व्यक्तिगत बाल-अपराध (ब) समूह द्वारा समर्थित बाल-अपराध, (स) संगठित बाल अपराध, और (द) परिस्थितिवश बाल-अपराध।

व्यक्तिगत बाल-अपराध (Individual Delinquency)

यह उस बाल-अपराध की ओर संकेत करता है जिसमें अपराध कार्य करने में केवल एक बालक ही लिप्त होता है और उसका कारण उस बाल-अपराधी के अन्दर होता है। इस आपराधिक व्यवहार को मनोचिकित्सकों ने अधिकांश व्याख्याएं दी हैं। उनका तर्क है कि बाल-अपराध मनोवैज्ञानिक समस्याओं के कारण होता है जो मुख्य रूप से दोषपूर्ण, अनुचित, रोगात्मक पारिवारिक अन्त:क्रिया के संरूपों से उत्पन्न होती हैं। हीली और ब्रौनर, एल्बर्ट बांडुरा और रिचर्ड वाल्टर्स, एडविन पावर्स और हेलन विटमर, और

हेनरी मेयर और एडगर बोर्गेटा के अनुसंधान इस उपागम पर आधारित हैं। हीली और ब्रौनर (1936) ने अपराधी युवाओं की उनके गैर-अपराधी सहोदर भाइयों से तुलना की है और उनकी भिन्नताओं का विश्लेषण किया। उनका सबसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह था कि उनके 13.0% गैर-अपराधी भाइयों की तुलना में 90.0% से अधिक अपराधियों का घरेलू जीवन दुखी था और वे अपने जीवन की परिस्थितियों से असंतुष्ट थे। दु:ख की प्रकृति भिन्न-भिन्न थी। कुछ सोचते थे कि उनके मां-बाप ने उन्हें अस्वीकार कर दिया है और अन्य भाइयों की तुलना में वे अपने को हीन समझते थे या उनके प्रति ईर्ष्या रखते थे। वे अपराध इसलिए करते थे क्योंकि इससे वे अवनी समस्याओं का समाधान पाते थे क्योंकि इससे (अपराध करने से) वे या तो अपने माता-पिता का ध्यान आकर्षित करते थे या अपने समकक्ष व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त करते थे या अपनी दोषी भावनाओं को घटाते थे। बाद में किये गये अध्ययनों ने पारिवारिक संबंधों के उन महत्वपूर्ण पहलुओं की पहचान की जिनके कारण अपराध होते हैं। बांडुरा और बाल्टर्स ने श्वेत बाल अपराधियों के आक्रामक कार्यों की ऐसे गैर-अपराधी लड़कों के ऐसे ही कार्यों से तुलना की जिनमें अर्थिक कष्ट का कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता था। उन्होंने पाया कि अपनी माताओं से संबंधों के मामले में बाल-अपराधियों और गैर-अपराधियों में बहुत कम अन्तर था। इस प्रकार माता-पुत्र संबंधो के मामले में बाल-अपराधियों और गैर-अपराधियों में बहुत कम अन्तर था। इस प्रकार माता-पुत्र संबंधों की अपेक्षा पिता-पुत्र संबंध अपराध में अधिक निर्णायक प्रतीत होते थे क्योंकि अपराधी लड़के अपने पिताओं में अच्छी भूमिका-आदर्शों (role models) के अभाव के कारण नैतिक मूल्यों का अन्त:करण नहीं कर पाये थे। इसके अतिरिक्त उनका (पिताओं का) अनुशासन अधिक कठोर और सख्त था।

समूह द्वारा समर्थित बाल-अपराध (Group-Supported Delinquency)

इस प्रकार के अपराध दूसरों की संगति में किये जाते हैं और इसका कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व में स्थिर नहीं होता और न ही अपराधी के परिवार में, अपितु व्यक्ति के घर और पड़ोस की संस्कृति में होता है। थ्रेशर एवं शॉ और मैके के अध्ययन इस प्रकार के अपराध पर किये गये हैं। किशोरों का अपराधी हो जाना किस कारण से होता है, इसका पता लगाने के दौरान उन्होंने यह मुख्य निष्कर्ष निकाला कि यह उनका पहले से ही हो चुके अपराधियों के साथ सम्पर्क और संगति के कारण होता है। इसे बाद में बहुत स्पष्ट रूप से कहा सदरलैंड ने जिसने 'विभिन्न सम्पर्क (dfferential association) का सिद्धान्त' विकसित किया। मन से उत्पन्न होने वाली (psychogenic) व्याख्याओं के विपरीत विचारों का यह सेट उन समस्याओं, जो अपराध करने के लिए प्रेरित कर सकते हैं, की अपेक्षा इस पर ध्यान केन्द्रित करता है कि क्या सीखा जाता है और किससे सीखा जाता है/

संगठित बाल-अपराध (Organised Delinquency)

यह बाल-अपराध उन बाल-अपराधों का उल्लेख करता है जो औपचारिक रूप से संगठित गुटों को विकसित करके किये जाते हैं। इन बाल-अपराधों का विश्लेषण अमरीका में 1950 के दशक में किया गया और अपराधी उप-संस्कृति की अवधारणा को विकसित किया गया। यह अवधारणा उन मूल्यों और प्रतिमानों का उल्लेख करती है जो कि गुट के सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित (guide) करते हैं, अपराध करने को प्रोत्साहित करते हैं, ऐसे कार्यों के आधार पर प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं और उन लोगों से विशिष्ट संबंधों का उल्लेख करते हैं जो उन समूहीकरणों के बाहर होते हैं जो समूह के प्रतिमानों से प्रभवित होते हैं। कोहिन वह पहला व्यक्ति था जिसने इस प्रकार के अपराध का उल्लेख किया। इसके बाद क्लोवार्ड, ओहलिन और कुछ अन्य आये।

परिस्थितिवश बाल-अपराध (Situational Delinquency)

उपर्युक्त बाल-अपराध के प्रकारों में एक बात समान है। इन सबमें अपराध की जड़ों को गहरा माना जाता है। व्यक्तिगत-अपराध में (मन से उत्पन्न होने वाली व्याख्या के अनुसार) बाल-अपराध की जड़ें

मुख्यतया बालक के अन्दर होती हैं। समूह द्वारा समर्थित और संगठित अपराधों (समाज में उत्पन्न होने वाली व्याख्या) में जड़ें या तो (अपराध की) समाज की संरचना में स्थित होती है जिसमें उन परिस्थितिकी क्षेत्रों पर बल होता है जहाँ बाल-अपराध व्याप्त है या उस व्यवस्थित तरीके पर जिसमें सामाजिक संरचना कुछ व्यक्तियों को सफलता के लिये मुकाबला न कर पाने हेतु कमजोर स्थिति में रखती है। परिस्थितिवश अपराध एक भिन्न परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करता है। यहाँ यह मान्यता है कि अपराध की जड़ें गहरी नहीं होती और अपराध के लिए प्रेरणाएं और उसे नियन्त्रित करने के साधन बहुधा अपेक्षाकृत सरल होते हैं। एक युवा व्यक्ति आपराधिक कार्य अपराध के प्रति गहरी वचनबद्धता के बिना करता है क्योंकि उसमें मनोवेग नियंत्रण कम विकसित होता है और/या पारिवारिक नियंत्रण कम सुदृढ़ होते हैं और क्योंकि पकड़े जाने पर भी उसके पास खोने के लिये अपेक्षाकृत बहुत कम होता है। डेविड माटजा एक वह विद्वान हैं जिसने इस प्रकार के बाल-अपराध का उल्लेख किया है। फिर भी परिस्थितिवश बाल-अपराध की अवधारणा अविकसित है और अपराध कारणत्व की समस्या में इसे अधिक प्रासंगिक नहीं माना जाता। इसे दूसरे प्रकारों के बाल-अपराध का प्रतिस्थापन (replacement) न मानकर संपूरक (supplement) माना जाता है।

अन्तर्गस्त कारक (Factors Involved)

शोधकर्ता सामान्यतया इस बात से सहमत है कि बच्चे के अपराधों में कई कारक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। हम इन करकों को दो समूहों में बाँट सकते हैं: व्यक्तिगत कारक और परिस्थिति संबंधी कारक। पहले में विनम्रता, अवज्ञा (defiance), विरोध, आवेगशीलता (impulsiveness), असुरक्षा की भावना, भय, आत्मनियंत्रण का अभाव, और भावात्मक द्वन्द्व (emotional conflict) जैसी व्यक्तिगत विशेषताएँ सम्मिलित हैं, जबकि दूसरे को हम पांच समूहों में उपविभाजित कर सकते हैं: परिवार, साथी, स्कूल का वातावरण, सिनेमा और कार्य का वातावरण।

परिवार (Family)

्कई सिद्धान्तवादी बाल-अपराध के विकास में परिवार को सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारक मानते हैं। वर्ग की प्रतिष्ठा, शक्ति समूह संबंध (power group relations) और वर्ग की गतिशीलता (class mobility) भी परिवार के वातावरण से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से संबंधित है। मनोवैज्ञानिक जैसे इर्विंग काफमेन (1959 : 15), सिडनी बर्मन (1964 : 142) और आगस्ट आईछौर्न (1969 : 16) अपराध के कारणों में मुख्यतया बचपन के अनुभवों भावात्मक वंचनों (deprivations), बच्चे के पालने की प्रक्रियाओं जो व्यक्तित्व के निर्माण को प्रभावित करते हैं, को महत्व देते हैं। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार असामान्य (abnormal) व्यवहार की अभिव्यक्ति, जो असामाजिक रूप में व्यक्तिगत चरों (variables), जैसे प्रेरणा (motivation), प्रवृत्ति (drive), मूल्य और आवश्यकताओं की पहचान को महत्त्व देते हैं समाजशास्त्री के लिए सामाजिक वातावरण, सामाजिक व्यवस्था संबंधी कारक और उन संस्थाओं की कार्यप्रणाली जो बाल-अपराध को प्रभावित करती है, अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक आन्तरिक नियंत्रण पर अधिक बल देते हैं और समाजशास्त्री बाह्य नियंत्रण पर।

सामाजिक वातावरण, जो बाल-अपराध को उत्पन्न करता है, का विश्लेषण छिन्न-भिन्न परिवार, पारिवारिक तनाव, माता-पिता द्वारा अस्वीकृति (rejection), माता-पिता का नियंत्रण और पारिवारिक आर्थिक स्थिति के संदर्भ में किया जा सकता है। एक सामान्य परिवार वह है जो संरचनात्मक रूप में संपूर्ण है (जहाँ माता-पिता दोनों जीवित हैं), कार्यात्मक रूप से पर्याप्त है (जहाँ प्रत्येक सदस्य अपनी अपेक्षित भूमिकाएँ निभाता है जिस कारण झगड़े कम हो जाते हैं), आर्थिक रूप से सुरक्षित है (जिससे सदस्यों की महत्त्वपूर्ण आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं) और नैतिक रूप से सशक्त हैं (जहाँ प्रत्येक सदस्य संस्कृति के नैतिक मूल्यो का अनुसरण करता है)। वह परिवार असामान्य होता है जिसमें इन विशेषताओं में किसी का भी अभाव होता है।

छिन्न-भिन्न या टूटा हुआ परिवार (Broken family), जहाँ माता-पिता में से कोई भी एक माता-पिता के संबंध-विच्छेद होने, तलाक या मृत्यु होने के कारण से अनुपस्थित होता है, बच्चे को प्रेम देने और उसे नियंत्रण में रखने में असफल रहता है। शेल्डन और ग्लूएक (1968 : 12) ने अपराधियों और गैर-अपराधियों के अपने अध्ययन में पाया कि अध्ययन किये हुए अपराधियों में से आधे से अधिक का लालन-पालन माता-पिता में से केवल एक ने किया था जबकि गैर अपराधियों में केवल 10% का ही लालन-पालन माता पिता में से किसी एक ने किया था। मोनेहन (1957 : 250-58), ब्राउनिंग (1960 : 37-44), गोल्ड मार्टिन, स्लोकम एवं स्टोन (1965) और पीटरसन एवं बेकर (1965) ने भी पाया कि गैर-अपराधियों की अपेक्षा अपराधियों की कहीं अधिक संख्या छिन्न-भिन्न परिवारों से थी।

पारिवारिक तनाव (Family tension) भी अपराध व्यवहार में एक प्रमुख योग देने वाला कारक होता है। अब्राहमसेन (1960 : 43) ने पाया कि पारिवारिक तनाव विरोध और घृणा से उत्पन्न होता है। तनाव से भरे हुए पारिवारिक वातावरण में बच्चा सुरक्षित और संतुष्ट महसूस नहीं करता। लंबे समय से चलता तनाव परिवार की समरसता (Cohesiveness) को कम कर देता है और माता-पिता के संतोषजनक शिशुपालन और पारिवारिक समस्या अनावारण के लिये प्रेरक वातावरण प्रदान करने की क्षमता को प्रभावित करता है। मैककार्डस और जोला (1959) ने भी पाया कि समरस परिवार कम अपराधियों को जन्म देते हैं और वे परिवार, जहाँ तनाव और विरोध व्याप्त होते हैं, भविष्य के अपराधियों के अच्छे

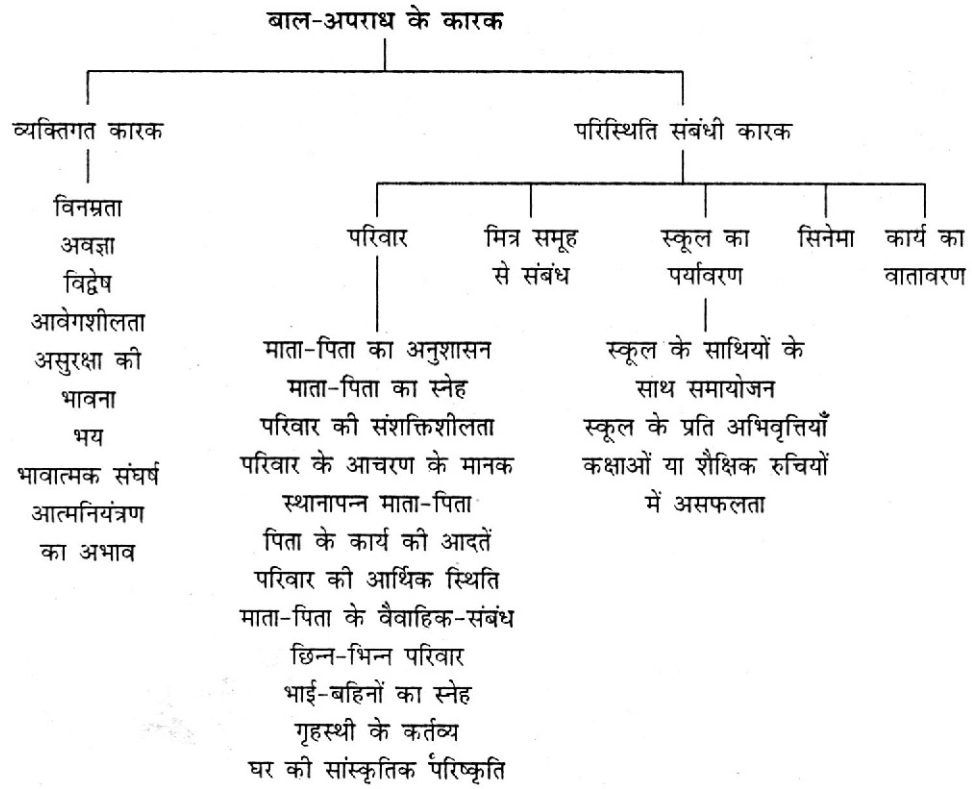

जन्मस्थल बन जाते हैं। ग्लूएक्स (1968 : 8) ने पाया कि सात गैर-अपराधी परिवारों में से एक की तुलना में तीन अपराधी परिवारों में से एक परिवार विघटित हुआ जब माता-पिता में से एक ने तनाव से भरे हुए झगड़ालू संबंधों के कारण परिवार को छोड़ दिया।

माता-पिता की अस्वीकृति (parental rejection) या भावात्मक वंचन का बाल-अपराध से गहरा संबंध होता है। यदि अस्वीकृत अथवा उपेक्षित बच्चे को घर में प्रेम और स्नेह और इसके साथ-साथ समर्थन नहीं मिलेगा और उसकी देखरेख नहीं होगी तो वह अक्सर परिवार के बाहर विचलित प्रकृति के समूहों का आश्रय लेगा। अध्ययनों ने पाया है कि माता-पिता और बच्चे की एक दूसरे की अस्वीकृति

सकारात्मक संबंध पर सुस्पष्ट रूप से प्रभाव डालती है और अन्त में इसका परिणाम अपराधी व्यवहार होता है। जैन्किस (1957 : 528-37) ने पाया कि माता-पिता की अस्वीकृति का बच्चे की अन्तरात्मा (conscience) के विकास पर सीधा प्रभाव पड़ता है। उसने कहा कि समुचित अन्तरआत्मा का अभाव और उसके साथ अस्वीकृत किये जाने से उत्पन्न विरोध की भावनाएं आक्रमणशीलता की ओर ले जाती है। एन्ड्री (1960 : 64) ने भी यह माना है कि गैर-अपराधियों की तुलना में अपराधियों की मात्रा और गुणात्मकता दोनों ही रूप में माता-पिता का प्रेम कम मिलता है।

जिस प्रकार टूटे परिवार, पारिवारिक तनाव और माता-पिता द्वारा अस्वीकृति पारिवारिक संरचना की क्षमता को प्रभवित कर सकते हैं, उसी प्रकार माता-पिता का नियंत्रण या अनुशासन के रूप भी अपराधी व्यवहार के विकास में अपनी भूमिका अदा कर सकते हैं। बच्चों के लालन-पालन में माता-पिता द्वारा जिस प्रकार के अनुशासन को काम में लाया जाता है, वह परिस्थिति और बच्चे के अनुसार भिन्न होता है। अनुशासन के प्रति अधिकारवादी (auhoritarian) उपागम बच्चे के समकक्ष समूह के संबंधों को प्रभावित करता है क्योंकि इस कारण बच्चा अपने साथ के बच्चों के साथ मुक्त भाव से अन्त:क्रिया नहीं कर पाता। इसके विपरीत, बहुत अधिक उदारता से बच्चे में अपने व्यवहारक को संचालित करने के लिये आवश्यक नियंत्रण उत्पन्न नहीं होंगे। अनुचित अथवा पक्षपाती अनुशासन से बच्चे में समुचित अन्तरआत्मा नहीं बन पाती। वह अनुचित अनुशासन को ऐसा आदर्श (model) बनने से रोकता है जिसका बच्चा अनुकरण कर सके। यह (अनुचित अनुशासन) किशोर (adolescent) को भी अपने माता-पिता को पीड़ा नहीं पहुँचाने और अपराधी व्यवहार नहीं अपनाने की इच्छा को निर्बल करता है। ग्लूएक्स (1968 : 15-16) ने पाया कि बाल-अपराधियों के माता-पिता मौखिक रूप से बात करने की अपेक्षा शारीरिक दंड का उपयोग अधिक करते हैं। बाल-अपराधियों के माता-पिता में गैर-अपराधियों के माता-पिता की तुलना में अपने अनुशासन के उपायों में कम संगति रहती है। यदि अनुशासित करने के उपायों का इस प्रकार वर्गीकरण किया जाये-प्रेम अभिमुख अनुशासन, दण्डात्मक अनुशासन, ढीला अनुशासन, अनियति (erratic) अनुशासन (दण्डात्मक और ढीला)-तो पिछले तीन प्रकार का संबंध अपराध से है।

भावात्मक अस्थिरता (emotional instability) और व्यावहारिक गड़बड़ियाँ (behavioural disturbanes) में से यदि एक या दोनों माता-पिता में होती है, तो इससे भी बच्चे में अपराधी व्यवहार उत्पन्न होता है। उन माता-पिता का बच्चा जो निरन्तर झगड़ते रहते हैं, अक्सर परिस्थिति का अनुचित लाभ उठाता है और बहुत अधिक दुर्व्यवहार करने के उपरान्त भी बच निकलता है।

पारिवारिक अर्थशास्त्र (family economics) भी बाल-अपराध में एक महत्वपूर्ण योगदान देने वाला चर (variable) है। बच्चे की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में परिवार की असमर्थता असुरक्षा उत्पन्न कर सकती है और बच्चे पर परिवार के नियंत्रण की मात्रा को प्रभावित कर सकती है क्योंकि वह प्राय: सांसारिक सहारा और सुरक्षा घर से बाहर खोजता है। पीटरसन और बेकर (1965) ने बतलाया है कि बाल-अपराधियों के घर अक्सर भौतिक दृष्टि से खराब हालत में होते हैं जो लड़के के अपने स्वयं के बारे में विचार को प्रभावित कर सकते हैं और घिनौनी चीज के रूप में सामने आकर उन्हें घर से परे कर सकते हैं। फिर भी यह बतलाना आवश्यक है कि आर्थिक और भौतिक संपत्तियां मध्यम और उच्च वर्ग में व्याप्त अपराध को स्पष्ट नहीं करती। परिवार की आर्थिक स्थिति एक बहु-समस्यात्मक परिवार के कई योगदान देने वाले कारकों में से एक हो सकती है।

पड़ोस (Neighbourhood)

बच्चे पर पड़ोस का प्रभाव ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा शहरी क्षेत्रों में अधिक होता है। परिवार के बाद बच्चा दिन का बड़ा भाग अपने पड़ोस में बिताता है। पड़ोस मूल व्यक्तित्व की आवश्यकताओं में रूकावट उत्पन्न कर, सांस्कृतिक संघर्षों को उत्पन्न करके असामाजिक मूल्यों को बढ़ावा देकर अपराध की ओर ले जाने में अपना योगदान दे सकता है। दूसरी ओर वह सामाजजिक मूल्यों का रखरखाव करके घर के प्रभाव

को बढ़ा सकता है।घनी आबादी वाले पड़ोस, जहाँ मनोरंजन की सुविधाएँ अपर्याप्त होती है, बच्चों के खेलने की प्राकृतिक प्रबल इच्छाओं का दमन करते हैं ओर अपराधी गिरोहों के बनने का प्रोत्साहित करते हैं। सिनेमाघर, सस्ते होटल औरविडिया हाल जो पड़ोस में होते हैं, दुराचार और अपराध को जन्म देने वाले स्थान बन जाते हैं।

सिनेमा और अश्लील साहित्य (Cinema and Pornographic Literature)

सिनेमा और कॉमिक पुस्तकें जिनमें व्यभिचार, धूम्रपान, मदिरापान और क्रूरता का चित्रण होता है, बच्चों और किशोरों के अपरिपक्व मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डालते हैं। कई बार वे अपराध और अपचार (delinquency) करने का ढंग भी सिखाते हैं। हमारे देश के विभिन्न भागों में कई बच्चे साधारण चोरी, सेंध लगाकर चोरी और अपहरण करने के लिये उन्हीं शैलियों का उपयोग करने पर गिरफ्तार किये जाते हैं। उन्होंने स्वीकार किया है कि उन्होंने ऐसी प्रक्रियाओं को सिनेमा में देखा है। इन चलचित्रों से ऐसी मनोवृत्तियाँ बन जाती हैं जो सरलता से पैसा बनाने की इच्छाओं को जागृत करके, उनकी प्राप्ति के लिये संदिग्ध तरीके सुझाकर, अपने को जोखिम में डालने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देकर, कामवासनाओं को भड़काकर और दिवास्वप्न देखने की आदत बनाकर अपराधी व्यवहार उत्पन्न करती है।

अपराधियों के उपचार के तरीके (Methods of Treating Delinquents)

अपराधी के उपचार के लिये कई और तरीकों का उपयोग किया जा सकता है। कुछ महत्वपूर्ण तरीके हैं: (1) मनश्चिकित्सा, (2) यथार्थ चिकित्सा, (3) व्यवहार चिकित्सा, (4) क्रिया चिकित्सा, और (5) पर्यावरण चिकित्सा दण्ड को उपचार का ढंग नहीं माना जाता है क्योंकि इसको अब उपचार का व्यवहार्य ढंग नहीं समझा जाता, यद्यपि कुछ अब भी सोचते हैं कि दंड भविष्य में अपराधी कार्य करने में प्रतिरोधात्मक सिद्ध होता है। व्रतिबन्ध और डांट (reprimand) अपनाये गये प्रमुख उपचार के उपागम के प्रभावी पूरक हो सकते हैं परन्तु दंड अपने आपमें लक्ष्य नहीं हो सकता।

किशोरों के उपचार के लिये दो मूल उपागम हैं : व्यक्तिगत उपचार और सामूहिक उपचार। इनमे से व्यक्तिगत तरीका मनोवैज्ञानिक, मनश्चिकित्सक, समाजशास्त्री और सामाजिक कार्यकर्ता अपनाते हैं, यद्यपि मनोवैज्ञानिक कई बार सामूहिक तरीके का भी उपयोग करते हैं। समाजशास्त्री प्राय: अपराध के लिये सामाजिक अभियांत्रिकी (Social engineering) उपागम का उपयोग करते हैं; अर्थात् वे सामाजिक संरचना की उन परिस्थितियों का अध्ययन करते हैं जिससे अपराध की उत्पत्ति होती है, जबकि मनोवैज्ञानिक व्यक्ति का उपचार करते हैं और अन्तर वैयक्तिक गतिकी (inter-personal dynamics) पर बल देते हैं। समाजशास्त्र को सैद्धान्तिक विद्या (theoretical discipline) माना जाता है जो अपराध और उपचार के कारणों और प्रभावों पर अनुसंधान करता है। सामाजिक कार्य का पेशा समाजशास्त्रियों का 'प्रायोगिक क्षेत्र' (practical arm) है (ट्रोजनोविच, 1973 : 229)। इस प्रकार उपरोक्त छह चिकित्सीय तरीके सामान्यत: मनोवैज्ञानिकों, मनश्चिकित्सकों ओर सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा उपयोग में लिये जाते हैं। हम प्रत्येक तरीके पर अलग-अलग संक्षिप्त में विचार करेंगे।

मनश्चिकित्सा (Psychotherapy) भावात्मक और व्यक्तित्व की समस्याओं का मनोवैज्ञानिक तरीके से उपचार करती है, अर्थात अभियोगार्थी (अपराधी) के भूत में महत्वपूर्ण व्यक्तियों (जैसे माता-पिता) के प्रति अभिवृत्तियों और भावनाओं को परिवर्तित करके। जब किशोर के अपने माता-पिता के साथ प्रारंभिक सम्बंध संतोषजनक नहीं रहते तो उसका भावात्मक विकास अक्सर धीमा पड़ जाता है, जिसके फलस्वरूप वह अपने शिशुकाल की लालसाओं को संतुष्ट करने के प्रयास में प्राय: आवेगशील हो जाता है और अपने परिवार में सामान्य रूप से संतुष्ट नहीं रहता। इन लालसाओं और आवेगों को संतुष्ट करना असामाजिक व्यवहार का रूप धारण कर सकता है। मनश्चिकित्सा के द्वारा बाल-अपराधी को चिकित्सक के द्वारा यह अनुमति दी जाती है कि वह प्रेम और स्वीकृति के वातावरण में काम करें, जहाँ उस

बालक को कड़ी अस्वीकृति या शारीरिक दण्ड का कोई डर नहीं हो। वह अन्तरण (transference) स्थापित होने के कारण होता है जिसमें कि रोगी (client) और चिकित्सक सूचना को आदान-प्रदान करने में निश्चिन्त महसूस करते हैं। इस प्रकार यह चिकित्सा संघर्षों को सुलझाने में सुविधा प्रदान करती है और अभियोगी के व्यवहार के अनुकूलन (adaption) के लिये सकारात्मक विकल्प प्रस्तुत करती है।

यथार्थ चिकित्सा (Reality therapy) इस विचार पर आधारित है कि वे व्यक्ति जो अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते गैर-जिम्मेदार तरीके से काम करते हैं। यथार्थ चिकित्सा का उद्देश्य अपराधी व्यक्ति को जिम्मेदार तरीके से काम करने में सहायता प्रदान करना है, अर्थात् असामाजिक कार्य करने से रोकना है। उदाहरणतया, यदि लड़का अध्यापक की कठोरता के कारण स्कूल की कक्षाओं में उपस्थित नहीं होता, तो उसे यह समझाया जाता है कि अध्यापक कठोर नहीं है, परन्तु उसके जीवन को बनाने में उसको सहायता देना चाहता है। यहाँ वर्तमान का भूत से सम्बंध-विच्छेद कर दिया जाता है क्योंकि भूत को बदला नहीं जा सकता। यह चिकित्सा कोई भी दे सकता है (पुलिस अफसर, परामर्शदाता, अध्यापक, सामाजिक कार्यकर्ता, परिवार का सदस्य या मित्र) क्योंकि यह अस्पष्ट मनोचिकित्सीय शब्दों पर, व्यापक परीक्षण का समय व्यय करने वाले प्रकरण परामर्शों परबल नहीं देती। यह तरीका मनोचिकित्सीय तरीके से इस प्रकार भिन्न है कि पिछला भूतकाल के व्यवहार से संबंधित है जबकि यह वर्तमान के व्यवहार से संबंधित है। जबकि मनोचिकित्सा इस पर आधारित है कि व्यक्ति उस समय तक अपने वर्तमान के व्यवहार को नहीं बदल सकता जब तक कि वह भूतकाल की घटनाओं से, उसे स्पष्ट रूप से जोड़ नहीं ले। यथार्थ चिकित्सा का आधार यह है कि भूत नगण्य है। इस चिकित्सा में बच्चे को एक जिम्मेदार व्यक्ति माना जाता है और न एक अभागा बच्चा। इससे बच्चे में शक्ति का संचार होता है। बच्चे से नियमों की अनुपालना की अपेक्षा की जाती है, परन्तु जब वह किसी नियम को तोड़ता है तो उसे अस्वीकृत नहीं किया जाता।

व्यवहार चिकित्सा (behaviour therapy) अपराधी के सीखे हुए व्यवहार में नई सीखने की प्रक्रियाओं के विकास के द्वारा परिवर्तन करना है। व्यवहार सकारात्मक या नकारात्मक प्रभावों के द्वारा अर्थात् पुरस्कारों या दण्डों के द्वारा बदला जा सकता है। नकारात्मक या अप्रिय प्रभाव (जैसे प्रतिबन्ध) नकारात्मक व्यवहार का कम (यानि, अपराधी कार्यवाही को) अथवा विलुपत (eliminate) कर देते हैं, जबकि सकारात्मक या प्रिय प्रबलन (जैसे पुरस्कार) सकारात्मक व्यवहार (जैसे नौकरी या समूह में सफलता) को बनाये रखते/बढ़ाते हैं इसके लिये प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावित करने वाली चीजों को मालूम करना पड़ता है, अर्थात वे पहलू जिन्हें व्यक्ति (अपराधी) व्यक्तिगत संतोष प्राप्त करने के लिये पाने की कोशिश करता है। पैसा, प्रशंसा, ध्यान, खाना, विशेषाधिकार, स्कूल में प्रवेश, बच्चों के साथ खेलने की स्वतंत्रता और अच्छे वस्त्र सकारात्मक प्रभाव देने वाले माने जा सकते हैं जबकि धमकियां, कारावास, उपहास, शारीरिक दण्ड और पैसे से वंचित करना नकारात्मक प्रभाव देने वाले हैं। व्यवहार में परिवर्तन लाने के लिये दोनों प्रभाव देने वालों को काम में लाया जा सकता है।

क्रिया चिकित्सा (activity therapy) कई बच्चों में परम्परागत व्यक्तिगत अथवा सामूहिक स्थिति में प्रभावी रूप से बातचीत करने की मौखिक क्षमता नहीं होती। क्रिया चिकित्सा में 6-8 बच्चों के समूह को विशेष समय/स्थान पर खेलने या किसी कलात्मक प्रयास में भाग लेने हेतु एकत्रित/निमंत्रित किया जाता है। वातावरण स्वच्छंद (permissive) होता है और बच्चे अपनी इच्छानुसार अपना समय व्यतीत कर सकते हैं। इस प्रकार एक साधारण स्नायु-रोगी (neurotic) बालक स्वच्छंद/अनुज्ञात्मक वातावरण में बहुत निर्मुक्त महसूस करता है जहाँ वह सृजनात्मक कार्य, खेल या शैतानी में अपना विरोध एवं आक्रामक प्रकट कर सकता है। चूँकि उसके व्यवहार से प्रतिशोध, दण्ड या स्वीकृति उत्पन्न नहीं होती, इसलिये उसकी दबी हुई भावनाओं को उपयुक्त मुक्ति मिल जाती है।

परिवेश चिकित्सा (milieu/environment therapy) ऐसे वातावरण को बनाने का प्रयत्न करती है जोकि अर्थपूर्ण परिवर्तन और संतोषजनक समायोजन में मदद करें। इसका उन व्यक्तियों के लिये उपयोग किया जाता है जिनका विचलित व्यवहार प्रतिकूल जीवन की परिस्थितियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया है।

उपरोक्त तरीकों का उपयोग करने के अतिरिक्त तीन और तरीकों का उपयोग बाल-अपराधियों के उपचार में किया जाता है। ये हैं-(1) सामाजिक प्रकरण-कार्य (Social case work), अर्थात् असमंजित बच्चे को उसकी समस्याओं का सामना करने में सहायता करना। कई पहलुओं में समान होते हुए भी तकनीकी तौर पर सामाजिक प्रकरण-कार्य मनो-चिकित्सा से भिन्न है। सामाजिक प्रकरण-कार्यकर्ता परीवीक्षा अधिकारी, कारागृह परामर्शदाता, मानसिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता या अस्पताल का सामाजिक कार्यकर्ता हो सकता है, जबकि मनो-चिकितसक अनिवार्य रूप से व्यवसाय से डॉक्टर होता है। प्रकरण-कार्यकर्ता अभियोगार्थी (client) का प्रकरण इतिहास, उसकी पृष्ठभूमि परिवेश और उसके परिवार मित्रों और स्कूल के साथियों के साथ संबंधों की छानबीन करने के लिये तैयार करता है और उसकी व्यक्तिगत शक्तियों ओर कमजोरियों का मूल्यांकन करता है, जिससे कि एक उपचार योजना बनाई जा सके और उसका कार्यान्वयन हो सके। फिर भी यह तरीका प्राय: अपराधियों के साथ सफल नहीं होता क्योंकि एक ओर अपराधी का सहयोग पाना कठिन होता है क्योंकि उसे प्रकरण कार्यकर्ता में विश्वास नहीं होता और दूसरी ओर अपराधी का परिवार भी विरोध करता है और प्रकरण-कार्यकर्ता की छान-बीन से उसे आशंका होने लगती है, (2) व्यक्तिगत परामर्श अर्थात् अपराधी को उसकी तात्कालिक परिस्थिति से अवगत कराना और उसकी समस्या के समाधान के लिए पुन: शिक्षित करना। इस तरीके में अभियोगार्थी के व्यक्तत्व में मूलभूत परिवर्तन करने का कोई प्रयास नहीं किया जाता, (3) व्यावसायिक परामर्श-इसका प्रमुख उद्देश्य अपराधी के जीवन के विकल्पों, नौकरी के विशेष विवरण और योग्यताओं और सफल रोजगार के लिये आवश्यक प्रशिक्षण के बारे में जानकारी को बढ़ाना है। सकारात्मक रुख, निपुणताएँ ओर आदतें जोकि कार्य स्थिति (work situation) में बच्चा विकसित और परिष्कृत करता है, समाज तक ले जाई जा सकती है और निश्चित रूप से उसके दूसरों के साथ संबंधों को प्रारम्भिक कर सकती है।

बाल-न्यायालय कुछ राज्यों में विशेष तौर पर बाल अपराधियों की न्यायिक जाँच और सजा देने के लिये स्थापित किये गये हैं। पहला बाल-न्यायालय 1922 में कलकत्ता में स्थापित किया गया था, इसके बाद 1927 में बंबई में और 1930 में मद्रास में। उसके बाद कुछ और राज्यों द्वारा भी ऐसे न्यायालयों का गठन किया गया। बाल-न्यायालयों द्वारा अपनाये गये तरीके वयस्क फौजदारी अदालतों द्वारा उपयोगी किये जा रहे तरीकों में बहुत अलग होते हैं। सामान्यत: इन न्यायालयों के संचालन करने वाले मजिस्ट्रेट महिलाएँ होती हैं। इनमें पुलिस अफसरों को सरकारी यूनिफार्म में आने की अनुमति नहीं दी जाती है। न्यायिक जांच के दौरान भी पूर्ण गोपनीयता बरती जाती है। बाल-न्यायालयों की बैठकों में जनता के लोगों को विशेष अनुमति के अतिरिक्त उपस्थित रहने की अनुमति नहीं दी जाती। वकीलों को बाल-न्यायालय के सामने किसी भी मुकदमे में पेश होने का अधिकार नहीं है। तथापि, यदि बाल न्यायालय का यह मत है कि जनहित में वकील का पेश होना आवश्यक है तो उसे विशेष मुकदमों में साधारण पोशाक में पेश होने के लिये अधिकृत किया जाता है। इस न्यायालय द्वारा दिया गया दण्ड किसी दूसरे अपराध में किसी दूसरे न्यायालय में न्यायिक जांच को प्रभावित नहीं करता। बाल-न्यायालयों की प्रमुख विशेषताएं ये हैं: कार्य प्रणाली की अनौपचारिकता, प्रतिरोधात्मक या प्रतिकारी न्याय दिये जाने वाले बल को हटाना, बच्चों की सुरक्षा एवं पुनर्निवास और सामाजीकरण के लिये उपचार के उपाय। संरचनात्मक रूप से बाल-न्यायालय न्यायिक श्रेणीबद्ध संगठन के एक अभिन्न भाग हैं, क्योंकि बाल-न्यायालय से सभी अपीलें इनसे उच्च (प्रौढ़) न्यायालयों को प्रेषित की जाती है। बाल-न्यायालयों में मुकदमों को निबटाने के लिये सामान्यतया जो तरीके काम में जाये जाते हैं वे हैं: अभिभावकों को वापस सौंप देना, चेतावनी देकर रिहा कर देना, जुर्माना करना,

परिवीक्षा (probation) पर रिहा करना, सुधारगृहों, मान्यता प्राप्त स्कूलों एवं बोर्स्टल स्कूलां को सौंपना और कारावास।

रिमान्ड होम या प्रेक्षण (अवलोकन) गृह (Remand Homes or Observation Homes) यह गृह उन बच्चों के लिये होते हैं जिनकी जांच न्यायालयों में लम्बित (pending) है, परन्तु उनका उपयोग बेघर, निराश्रय एवं उपेक्षित बच्चों को रखने के लिये भी किया जाता है। उनके यहाँ पर निवास का उनकी व्यक्तित्व की विशेषताओं और व्यवहार के मूल्यांकन के लिये किया जाता है। इस प्रकार इन गृहों को कारावास स्थानों के बजाय प्रेक्षकगृहों के रूप में देखा जाता है। रिमान्ड गृहो की महत्वपूर्ण विशेषतायें ये हैं: पृथक्करण, शिक्षा, प्रशिक्षण, मनोरंजन की सुविधाएं, स्वास्थ्य की देखभाल, नियंत्रित अनुशासन, और प्रभावी निरीक्षण। बच्चा क्योंकि अवलोकन गृह या रिमाण्ड गृह में पहली बार कानून के संपर्क में आता है, इसलिये यदि उसके परिवेश को सहायक नहीं बनाया जाता तो बच्चा न्यायालय के प्रति शक्की और अवज्ञाकारी हो सकता है।

भारत में रिमान्ड गृह या प्रेक्षकगृह सभी राज्यों में नहीं हैं। 1990 के आंकड़ों के अनुसार प्रेक्षणगृह 25 राज्यों में से केवल 11 राज्यों में और एक केन्द्र प्रशासित क्षेत्र में पाये जाते हैं। इन गृहों की सबसे अधिक संख्या महाराष्ट्र में है। इसके बाद गुजरात, कर्नाटक, तमिलनाडु, केरल, उत्तर प्रदेश, बिहार, आंध्र प्रदेश और पश्चिम बंगाल में है। लगभग 139 रिमान्ड/प्रेक्षणगृहों में से आधे से कुछ अधिक सरकार द्वारा चलाये जाते हैं और आधे से कुछ कम स्वयंसेवी हैं। लड़कों और लड़कियों के लिये पृथक गृह हैं। रिमान्ड गृहों में कुल निवासियों में से दो–तिहाई 7-14 वर्षों के आयु समूह में हैं जबकि शेष एक–तिहाई या तो सात वर्ष से कम के हैं या 14 और 18 वर्ष के बीच के हैं।

लगभग 50% निवासी यहाँ छह सप्ताह से कम अवधि के लिये रखे जाते हैं, 35.0% छह सप्ताह और छह माह के बीच में और 15% छह माह से अधिक समय के लिये। डाक्टर स्वास्थ्य की देखभाल के लिये पूर्णकालिक और अंशकालिक आधार पर नियुक्त किये जाते हें। जबकि रिमान्ड गृहों में 1973 में प्रति निवासी प्रतिमाह व्यय लगभग 60 रुपये था, 1993 में वह 320 रुपये प्रतिमाह प्रति निवासी माना जाता था।

मान्यता प्राप्त या सुधारक स्कूल (Certified or Reformatory School)

उन बच्चों को जिन्हें न्यायालय से निरोधादेश (detention orders) दिये जाते हैं सुधारक स्कूलों में न्यूनतम तीन वर्षों के लिये और अधिकतम सात वर्षों के लिये रखा जाता है। उन निवासियों का जो 18 वर्ष के हो जाते हैं, स्थानान्तरण बोर्स्टल स्कूलों में कर दिया जाता है। ये स्कूल जो केवल लड़कों के लिये होते हैं, जेल विभाग के निरीक्षण में रहते हैं। प्रत्येक स्कूल, जिनमें 80-100 निवासियों की क्षमता होती है, को 4-5 शयनागारों (dormitories) में विभाजित किया जाता है और प्रत्येक शयनागार में 4-5 कक्ष (cells) होते हैं। प्रत्येक स्कूल में एक अधीक्षक (superintendent), उप–अधीक्षक, उप–जेलर, सहायक जेलर, डॉक्टर, 3-4 प्रशिक्षक, 2-3 अध्यापक और कुछ वार्डन होते हैं। सिलाई, खिलौने बनाने, चमड़े का सामान बनाने और कृषि में प्रशिक्षण दिया जाता है। प्रत्येक प्रशिक्षण कार्यक्रम दो वर्ष का होता है। निवासी को कच्चा माल स्कूल से मिलता है और उसके द्वारा बनाई गई चीजें बाजार में बेची जाती हैं और मुनाफा उसके खाते में जमा करा दिया जाता है। जब जमा राशि एक निर्धारित रकम तक पहुंच जाती है, तो निवासी को केवल राज्य के उपयोग के लिये ही चीजें बनानी होती हैं। निवासी को बुनियादी शिक्षा छठी कक्षा तक मिलती है और उसे वर्ष के अन्त में परीक्षा में बैठना होता है जिसका संचालन स्कूलों के निरीक्षक करते हैं। यदि निवासी छठी कक्षा से आगे पढ़ना चाहता है तो उसका प्रवेश बाहर के स्कूल में करा दिया जाता है। चूंकि निवासियों को किसी काम के लिये बाध्य नहीं किया जाता, इसलिये वे परिवार के सदस्यों की तरह रहते हैं। तथापि, कोई अनुवर्ती (follow-up) रिकार्ड निवासियों के रिहाई के बाद स्कूलों द्वारा नहीं रखे जाते। दूसरे, प्रशिक्षण कार्यक्रम काफी पुराने और रूढ़िवादी हैं।

वोर्स्टल स्कूल (Borstal Schools)

बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में किशोर अपराधियों को वयस्कों से पृथक रहने का प्रावधान किया गया जिससे कि सुधार सेवाएं अधिकारवादी (authoritarian) वातावरण से मुक्त हों और किशोर अपराधियों के लिये सुधार सम्भव हो सके। इस प्रकार बोर्स्टल स्कूल 16-21 वर्षों की आयु समूह के किशोर अपराधियों के लिये स्थापित किये गये। देश में 1919 तक बोर्स्टल स्कूल केवल नौ राज्यों में थे। तमिलनाडु (1926), आन्ध्र प्रदेश (1926), बिहार (1926), पंजाब (1926), मध्य प्रदेश (1928), महाराष्ट्र (1929), उत्तर प्रदेश (1938), केरल और कर्नाटक (1943)। प्रत्येक स्कूल की क्षमता 100 से 350 निवासियों के बीच घटती-बढ़ती है। यद्यपि यह स्कूल महानिरीक्षक जेल (इन्सपेक्टर जनरल ऑफ प्रिजन्स) के सामान्य निरीक्षण में काम करते हैं, तथापि प्रत्येक स्कूल की एक अपनी निरीक्षण समिति (visiting committee) होती है जिसमें एक सत्र न्यायाधीश, एक जिला मजिस्ट्रेट, जिला स्तर का स्कूल अफसर और चार गैर-सरकारी सदस्य होते हैं। कोई भी निवासी यहां दो वर्ष से कम या पांच वर्ष से अधिक नहीं रखा जाता। इस प्रकार केवल उन्हीं अपराधियों को इन स्कूलों में भेजा जाता है जिन्हें तीन वर्ष से अधिक की सजा होती है। प्रत्येक स्कूल को गृहों (houses) में विभाजित किया जाता है और प्रत्येक गृह का एक गृहपति (house-master) होता है। प्रत्येक गृह को इसके अतिरिक्त समूहों में विभाजित किया जाता है और प्रत्येक समूह का एक मॉनिटर होता है। इन मॉनिटरों का चयन निवासियों में से ही किया जाता है। स्कूल में श्रेणी पद्धति भी होती है: साधारण, उत्कृष्ट (star) और विशेष श्रेणियां। उन निवासियों को जो प्रतिमानों का उल्लंघन करते हैं, दण्ड श्रेणी में पदावनत कर दिया जाता है। परन्तु साधारण प्रकरणों में उन्हें एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में पदोन्नत कर दिया जाता है। कोई भी निवासी स्कूल से रिहा होने का उस समय तक पात्र नहीं होता, जब तक वह विशेष उत्कृष्ट श्रेणी में नहीं पहुँच जाता। स्कूल में प्रवेश के उपरान्त उसकी तीन महीने तक ध्यान से देखभाल की जाती है और उसे बागवानी जैसा कोई साधारण काम दिया जाता है। साधारण श्रेणी में रखने पर उसे उसकी शिक्षा और क्षमता के अनुरूप कोई प्रशिक्षण कार्यक्रम दिया जाता है। प्रत्येक पदोन्नति अधिक स्वतंत्रता और विशेषाधिकार प्रदान करती है। देश में नौ बोर्स्टल स्कूलों में 1991 में निवासियों की कुल संख्या 1295 आंकी गई थी, जिनमें से 35.0% 16-18 वर्षों के आयु-समूह में थे, 60.0% 18-12 वर्षों के आयु-समूह में और 5.0% 15-16 वर्षों के आयु-समुह में थे। अंतिम श्रेणी के निवासियों को विशेषस्थिति में प्रवेश दिया जाता है। प्रत्येक निवासी का प्रतिमाह खर्चा 1901 में लगभग 600 रुपये था। यह बालगृह के खर्चे में लगभग दुगना है। प्रत्येक दिन की दिनचर्या में दो घंटे की बुनियादी शिक्षा और 5-6 घंटे का व्यावसायिक प्रशिक्षण सम्मिलित है। प्रत्येक निवासी को अपने घर जाने के लिये प्रतिवर्ष 15 दिन का अवकाश मिलता है। सामान्यतया निवासी अपने परिवार के सदस्यों से पत्र-व्यवहार और अपनी मुलाकातों के द्वारा निरन्तर संपर्क में रहता है। कुछ बोर्स्टल स्कूलों ने पंचायत व्यवस्था का भी निर्माण किया है और इस प्रकार निवासियों को स्कूलों के प्रबन्ध से जोड़ दिया है। निवासियों की अवधि समाप्त होने से पहले भी उन्हें स्कूलों से रिहा कर दिया जाता है; उराहदणतया, 1353 निवासियों में से जिन्होंने 1991 में देश के विभिन्न बोर्स्टल स्कूलों को छोड़ा, 47.0% के अवधि के समाप्त होने के बाद रिहा किया गया, 13.0% को ज़मानत पर छोड़ा गया, 8.0% को लाइसेन्स पर छोड़ा गया, 6.0% को अपील पर 9.0% का किसी अन्य आधार पर, 2.0% उनमें से निकल भागे और 15.0% को किसी अन्य संस्था में स्थानान्तरित किया गया। बोर्स्टल स्कूल से रिहा करने से पूर्व मुक्त कैदियों की सहायता संस्था (Discharged Prisoners Aid Society) को सूचना दी जाती है जिससे कि वह मुक्त निवासी के लिये उत्तर-रक्षा (after-care) कार्यक्रम बना सके।

परिवीक्षा छात्रावास/गृह (Probation Hostels/Homes)

ये संस्थाएं अपराधियों के परिवीक्षा अधिनियम (Probation of offenders Act) के अन्तर्गत स्थापित हुई और उनका काम उन अपराधियों का, जो परिवीक्षा पर रिहा किये गये हैं और जो परिवीक्षा

अधिकारी के पर्यवेक्षण में रहते हैं, आवासीय देखभाल और उपचार करना है। निवासियों को बाजार जाने की और पसन्द की नौकरियां करने से पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की जाती है।

सब प्रकार की बाल संस्थाओं का मूल्यांकन यह बतलाता है कि यद्यपि निवासियों की जीवन शैली संतोषजनक है और उन्हें अधिक स्वतंत्रता दी जाती है, परन्तु संस्थाओं में भीड़भाड़ रहती है, प्रबन्ध का केन्द्रीयकरण है, प्रशिक्षण कार्यक्रम अत्यन्त रूढ़िवादी है और व्यक्तियों पर व्यक्तिगत ध्यान नहीं दिया जाता है। उनके लिये बजट का आवंटन भी बहुत कम है। बाल सुधारक संस्थाओं के मूल्यांकन के लिये 1968 में एम०डी० गोखले के निर्देशन में इंडियन काउन्सिल ऑफ सोशल वेलफेयर ने एक अध्ययन किया था। इस अध्ययन में (1969 : 83-89), 1958 और 1963 के बीच रिहा किये गये 229 निवासियों का साक्षात्कार लिया गया। उसमें यह पाया गया कि (1) इन संस्थाओं में दिया गया प्रशिक्षण निवासियों को नौकरी मिलने में सहायक नहीं होता, (2) संस्थाएं औपचारिक स्कूल/कॉलिज शिक्षा के लिये सुविधाएँ उपलब्ध नहीं करती, (3) परामर्श और प्रकरण-कार्य (case-work) सुविधाएँ अपर्याप्त हैं, (4) निवासियों पर व्यक्तिगत ध्यान नहीं दिया जाता, और (5) संस्थाओं के पास सीमित बजट होता है जिससे पर्याप्त योजना नहीं बन पाती।

सामाजिक रूप से बाधित (handicapped) बच्चों के लिये राजस्थान में 27 संस्थाओं (जिनमें बाल सुधार गृह, अवलोकन गृह, परिवीक्षा गृह और बालगृह सम्मिलित हैं) के 1975-76 के एम०एम० बेदी द्वारा किये गये अध्ययन ने भी यह बतलाया कि (1) संस्थाओं की सुविधाओं का पूरी तरह उपयोग नहीं किया जाता और उनके अधिभोग (occupancy) की दर उनकी क्षमता से कहीं कम है, (2) व्यावसायिक प्रशिक्षण की गुणवत्ता और विषय-वस्तु बहुत कम है। वह एक निवासी को संस्था से रिहा करने के उपरान्त उसे आर्थिक रूप से पुनर्निवासित होने में सक्षम नहीं बनाती, (3) निवासियों के लिये जगह और भौतिक सुविधाएं केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड घरा निर्धारित प्रतिमानों से बहुत कम हैं, (4) संस्था में रहने की अवधि में सुरक्षा सेवाएं (तगड़े और आक्रामक निवासियों के विरुद्ध एवं साथी निवासियों द्वारा समलिंगामी (homosexual) आक्रामक के विरुद्ध एवं खाने की एवं अन्य चीजों के छीनने के विरुद्ध) और संस्था से रिहा होने के बाद (पुराने सहापराधियों, पुलिस उत्पीड़न और अनैतिक अवैध व्यापारियों के विरुद्ध उपलब्ध नहीं कराई जाती, और (5) निवासियों को परिवार के सदस्यों, सम्बन्धियों और मित्रों के साथ सम्पर्क रखने की सुविधाएं अपर्याप्त हैं।

निवारक कार्यक्रम (Preventive Programme)

बाल-अपराध प्रमुख रूप से शहरी तथ्य है, इसलिये बाल-अपराध को रोकने के लिये और खासतौर से शहरी जीवन की जटिलताओं के कारण निजी और सरकारी एजेन्सियों को इसमें शामिल करना पड़ेगा।

बाल-अपराध को रोकने के लिये तीन उपागम हैं- (1) ऐसी गतिविधियों का आयोजन करना जो बच्चों के व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास करें और उनका समायोजन करें, (2) बच्चों के ऐसे वातावरण को नियंत्रित करें जो बाल-अपराध में योगदान देता है, और (3) बच्चों के लिये विशेष निवारक सेवाएं आयोजित करें। पहला उपागम बाल-अपराध के रोकने को इनमें जोड़ता है : (i) समाज के संस्थात्मक ढांचे में व्यापक सुधारों से; उदाहरण के लिये, परिवार, पड़ोस, स्कूल में सुधार (ii) निर्धनता से ग्रसित परिवारों के आय स्तरों को ऊँचा उठाना, (iii) बच्चों को नौकरी के अवसरों को उपलब्ध कराना, (iv) स्कूलों को स्थापित करना (v) नौकरी की स्थितियों को सुधारना, (vi) पड़ोस में मनोरंजन की सुविधाएं उपलब्ध कराना, (vii) वैवाहिक संबंधों को पारिवारिक परामर्श सेवाओं के माध्यम से सुधारना, और (viii) अन्य उपायों के साथ नैतिक और सामाजिक शिक्षा प्रदान करना। दूसरे प्रकार की निवारक गतिविधियों में सम्मिलित सामुदायिक संगठन, कल्याण और बच्चों की देखरेख करने वाली ऐजेन्सियां हैं। तीसरे प्रकार की निवारक गतिविधियों में परिवीक्षा और पैरोल की सेवाएं, मान्यता प्राप्त एवं बोर्स्टल स्कूल, बालगृह, परिवीक्षा छात्रावास आदि हैं। निवारक कार्यक्रमों का भी इस प्रकार वर्गीकरण किया गया है, (टोजनोविज,

(1973 : 188)-(1) विशुद्ध (pure) निवारण या प्राथमिक निवारण जो कि बाल-अपराध को उसके होने से पहले रोकता है, और (2) पुनर्निवासीय निवारण या द्वितीय निवारण जो उन बच्चों के लिये हैं जिन्हें न्यायालय बाल-अपराधी घोषित कर चुका है।

पीटर लेजिन्स (Peter Lejins, 1967 : 3) ने निवारक कार्यक्रमों का इस प्रकार वर्गीकरण किया है-(1) दण्डात्मक (punitive) निवारण, (2) दोष निवारण (corrective) और (3) भौतिकीय (mechanical) निवारण। पहला दण्ड की धमकी है जो इस विचार पर आधारित है कि दण्ड आपराधिक कायों को रोक देगा; दूसरा उस प्रयास की ओर संकेत करता है जोकि संभावित (Potential) कारणों को अपराधी व्यवहार के वास्तविक रूप से होने से पहले ही हटा देता है; और तीसरा संभावित अपराधी के मार्ग में बाधाएं (जैसे अधिक सुरक्षा के उपाय या अधिक पुलिस सुरक्षा) डालने पर बल देता है, जिससे कि उसे अपराध करने में कठिनाई हो।

बाल-अपराध के निवारण के लिये भारत में पचास और अस्सी के दशकों के बीच और नब्बे दशक के आरंभिक वर्षों में एजेन्सियां कार्यरत थीं; जैसे, स्वयंसेवी बाल संस्थाएं जो बाल कल्याण को देखती थीं, स्कूल, समाज कल्याण विभाग, उद्धार गृह, अनाथालय और मनोचिकित्सा केन्द्र। स्वयंसेवी संगठनों के प्रयत्न कम समन्वित (coordinated) थे, जबकि सरकारी विभागों के अधिक नियोजित एवं सुव्यवस्थित रूप से आयोजित थे।

सरकारी संस्थाओं (बालगृह, मान्यता प्राप्त स्कूल ...) के पुनर्वासीय निवारण के लिये कार्यप्रणाली का अधिनिरीक्षण पिछले पृष्ठों में दिया जा चुका है (संस्थाओं में अभिरक्षा की परिचर्चा के साथ)। यहाँ हम विशुद्ध निवारण कार्यक्रमों की संक्षेप में चर्चा करेंगे। सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र, जहाँ सरकार को शिक्षा, मनोरंजन और व्यावसायिक प्रशिक्षण की सुविधाएं बाल-अपराधों को रोकने के लिये उपलब्ध कराने की आवश्यकता है, शहरों में गंदी बस्तियों के क्षेत्र हैं। बड़े शहरों में जनसंख्या का एक बड़ा भाग गंदी बस्तियों में रहता है। यदि थ्रेशर शॉ और मैके, कोहिन एवं क्लोवार्ड एवं ओहलिन की पर्यावरण से बाल-अपराधों को सीखने और पड़ोस की संसक्तिशीलता (cohesiveness) के अभाव से संबंधित सिद्धान्तों का कुछ औचित्य है, तो यह अवश्य है कि सरकार इन क्षेत्रों में बच्चो के कल्याण के लिये और उनके सामुदायिक जीवन में कुछ और अच्छे समाकलन के लिये कुछ कार्यवाही करें।

परिवार एक दूसरी संस्था है, जिसकी ओर अधिक ध्यान देना आवश्यक है। बाल-अपराध में कार्यात्मक अपर्याप्त परिवारों, संरचनात्मक रूप से अधूरे या छिन्न-भिन्न परिवारों, निर्धन परिवारों, अनैतिक परिवारों और अनुशासनविहीन परिवारों की भूमिका को पहले ही सविस्तार प्रतिपादित किया जा चुका है। जब तक इन विघटित परिवारों को पुन: संघटित नहीं किया जाता, जब तक पर्यावरण संबंधी चिकित्सा उपलब्ध नहीं कराई जाती, तब तक कुण्ठित और भावात्मक रूप से विक्षुब्ध बच्चों को अपराधियों से संबंध स्थापित करने से नहीं रोका जा सकता।

पुलिस द्वारा बच्चों के लिये चलाई जा रही मनोरंजन इकाईयां एक नई अवधारणा है। बंबई और देहली जैसे नगरों में पुलिस विभाग की बाल इकाईयों ने इन कार्यों को अपने हाथ में लिया है। इसी प्रकार से पुलिस और स्कूल के बीच सम्पर्क कार्यक्रम पुलिस और बच्चों के बीच विद्वेष और पारस्परिक संशय (suspicion) को समाप्त करने, पुलिस की अध्यापकों को समस्यात्मक युवाओं से निपटने में सहायता करने, और सामान्यत: पुलिस की छवि को सुधारने में सफल होगा।

मादक पदार्थों के सेवन के हानिकारक प्रभावों के बारे में और भ्रामक सामाजिक व्यवहार में लिप्त होने के बारे में बच्चों को शिक्षित करना बाल-अपराध को रोकने का एक अन्य उपाय है। पिछले वर्षों में मादक पदार्थों का व्यसन स्कूल के बच्चों और गंदी बस्तियों के रहने वालों में बढ़ गया है। ऐसे बच्चों को

जो मादक पदार्थों का प्रयोग कर रहे हैं परामर्श सेवाएं उपलब्ध कराना, विशेष रूप से अवैध मादक पदार्थों के प्रयोग और सामान्यत: बाल-अपराध का सामना करने में, एक प्रभावी उपाय होगा।

भगोड़े बच्चों के लिये कार्यक्रमों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। इन बच्चों के लिये कर्मचारियों की सहायता और निर्देशन से अपनी स्वयं की स्थितियों पर विचार करने का अवसर प्रदान करने के लिये बड़े नगरों और कस्बों में गृहों (homes) को स्थापित करने की आवश्यकता है। ये गृह भागे हुए बच्चों और उनके माता-पिता एवं अभिभावकों के बीच वास्तविक सम्पर्क को बढ़ावा देने में सहायक हो सकते हैं, जिससे कि गंभीर समस्याओं का निवारण हो सके।

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बाल-अपराध के रोक और नियंत्रण के सभी पहलुओं के बारे में एक सही सरकारी नीति के लिये सूक्ष्म अन्वेषण पद्धतियों के द्वारा योजना एवं मूल्यांकन दोनों की आवश्यकता है। इसके लिये सरकारी एजेन्सियों, विश्वविद्यालयों, पुलिस, न्यायापालिका और सामाजिक कार्यकर्ताओं के बीच समन्वय भी आवश्यक है।

4.10. बाल-न्यायालय (Juvenile Court)

13 अगस्त, 1986 को भारत के उच्चतम न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश एवं विधिवेत्ता श्री पी०एन० भगवती तथा न्यायमूर्ति श्री रंगनाथ मिश्र की खंडपीठ द्वारा **(Sheela Barse V/s Union of India & Others (Eastern Criminal Cases 1987 S.C. Page 727)** दिये गये एक महत्वपूर्ण मामले में यह मत व्यक्त किया गया है कि किशोरों के मामले की जाँच किशोर न्यायालय (Juvenile Court) द्वारा ही की जानी चाहिये न कि सामान्य आपराधिक न्यायालय द्वारा। इस मामले में उन्होंने क्षोभ व्यक्त करते हुए यह कहा कि एक तो कई राज्यों में किशोर न्यायालय का गठन ही नहीं किया गया है और जहाँ ऐसे न्यायालयों का गठन किया भी गया है वहाँ वे न्यायालय एक सामान्य आपराधिक न्यायालय की तरह कार्य कर रहे हैं। सिर्फ लेवल बदल दिये गये हैं। एक ही मजिस्ट्रेट जो सामान्य आपराधिक न्यायालयों में कार्य करते हैं वही मजिस्ट्रेट यांत्रिक रूप से किशोर के मामले में भी जाँच करते हैं। अत: उन्होंने राज्य को किशोर न्यायालय के गठन पर बल दिया और कहा कि ऐसे किशोर न्यायालय का मजिस्ट्रेट विशेष कैडर का होना चाहिए और किशोर के मामले का निपटारा करने का उसे विशेष ज्ञान होना चाहिए। निर्णय के अन्त में उन्होंने केन्द्र सरकार को किशोर न्याय अधिनियम के गठन करने का भी सुझाव दिया।

सर्वोच्च न्यायालय के उपरोक्त वर्णित निर्णय में व्यक्त किये गये निर्देश के पश्चात् भारतीय संसद ने सर्वप्रथम किशोर न्यायालय अधिनियम 1986 को पारित किया और उक्त अधिनियम की धारा 4 में निर्देशानुसार किशोर न्यायालय का गठन किया गया। इसके पश्चात् सन् 2000 में इस कानून के स्थान पर नया कानून बनाया गया जिसे किशोर न्याय (बालकों की देखरेख और संरक्षण) अधिनियम 2000 के नाम से जाना जाता है। इस अधिनियम की धारा 4 में किशोर न्यायालय का गठन किया गया है जो इस प्रकार है-

(1) राज्य सरकार, राजपत्र में अधिसूचना द्वारा किसी जिले या जिले के समूहों के लिये ''किशोर न्याय बोर्ड'' (Juvenile Justice Board) का गठन करेगी जो विधि विवादित किशोरों (Juvenile in conflict with law) के सम्बन्ध में अधिरोपित शक्तियों का प्रयोग और कर्तव्यों का निर्वहन करेगी।

इस प्रकार उपरोक्त उपबन्ध से यह स्पष्ट है कि ''किशोर न्याय बोर्ड'' सिर्फ वैसे किशोरों के मामले में जाँच करेगी जो विधि विवादित किशोर है, अर्थात् जो किशोर अपचारी हैं। अर्थात् बोर्ड ''देखरेख और संरक्षण की आवश्यकता वाला बालक'' (Child in need of care and Protection) के मामले में कोई जाँच नहीं करेगी।

(2) किशोर न्यायालय अर्थात् किशोर न्याय बोर्ड निम्नलिखित से गठित होगा-

(i) महानगर मजिस्ट्रेट अथवा प्रथम श्रेणी का कोई मजिस्ट्रेट

(ii) दो सामाजिक कार्यकर्ता जिसमें कम-से-कम एक स्त्री होगी।

बोर्ड का प्रधान मजिस्ट्रेट होगा। ऐसे प्रत्येक बोर्ड को दण्ड प्रक्रिया संहिता के अधीन वही शक्ति होगी एवं कर्तव्यों का निर्वहन करना होगा जो एक महानगर मजिस्ट्रेट अथवा प्रथम वर्ग के न्यायिक मजिस्ट्रेट को है।

(3) किशोर न्याय बोर्ड के प्रधान मजिस्ट्रेट को तभी नियुक्त किया जायेगा जब उसे बाल-मनोविज्ञान अथवा बाल-कल्याण का विशेष ज्ञान अथवा प्रशिक्षण प्राप्त हो। बोर्ड के दो अन्य सदस्यों को तब तक नियुक्त नहीं किया जायेगा जब तक कि वह सक्रिय रूप से कम-से-कम सात वर्षों से बालकों से सम्बन्धित स्वास्थ्य, शिक्षा अथवा कल्याणकारी कार्यों में न लगा रहा हो।

किशोर न्याय बोर्ड की शक्तियां-अधिनियम की धारा 6 के अन्तर्गत बोर्ड की शक्तियों का उल्लेख किया गया है। इस धारा के अनुसार; जहाँ किसी जिले में अथवा जिलों के किसी समूह के लिए किसी बोर्ड का गठन किया है, वहीं किसी अन्य विधि के लागू होते हुए भी परन्तु इस अधिनियम में अन्यथा उपबन्धों को छोड़कर ऐसे बोर्ड को विधि विवादित किशोर (Child is conflict with law) के सम्बन्ध में समस्त कार्यवाही को करने की अनन्यतम शक्ति होगी।

धारा 6 (2) के अनुसार; बोर्ड को प्रदत्त की गई शक्तियों का प्रयोग उच्च न्यायालयों या सेशन न्यायालय द्वारा भी किया जा सकता है, परन्तु यह तब जब उनके समक्ष अपील, पुनरीक्षण या अन्यथा के रूप में कार्यवाही उनके समक्ष आये।

किशोर न्यायालय की कार्यप्रणाली-जब कोई विधि विवादित किशोर इस अधिनियम के उपबन्धों के अधीन किशोर न्यायालय के समक्ष लाया जाता है तो न्यायालय धारा 49 के तहत सम्यक रूप से उसकी आयु के बारे में जाँच करेगा कि वह किशोर है या नहीं। बालक के किशोर पाये जाने पर न्यायालय धारा 54 के प्रावधान के तहत मामले के जाँच के लिये दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 के तहत समन्स मामले (Summons case) की प्रक्रिया को अपनायेगा।

बोर्ड (किशोर न्यायालय) अपने कार्य के सम्पादन में अपनी बैठक नियमों के अनुसार तय करेगा। बोर्ड के किसी भी सदस्य की अनुपस्थिति में भी बोर्ड कार्य करेगा। परन्तु अन्तिम निपटारे के समय प्रधान मजिस्ट्रेट को सम्मिलित करते हुए कम-से-कम दो सदस्यों का रहना अनिवार्य है। मामले के अन्तरिम अथवा निपटारे के समय सदस्यों के बीच मतभेद की दशा में बहुमत की राय अधिभावी होगी। परन्तु जहाँ ऐसी कोई बहुमत नहीं है वहाँ प्रधान मजिस्ट्रेट की राय अधिभावी होगी।

क्या बोर्ड संतोषजनक रूप से कार्यकारी है-सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री पी०एन० भगवती एवं न्यायाधीश श्री रंगनाथ की जिस सोच ने इस अधिनियम को जन्म दिया, अधिनियम के वे सारे प्रावधान किताबों तक ही सिमटकर रह गये हैं। आज जो किशोर न्याय बोर्ड के प्रधान मजिस्ट्रेट कार्य कर रहे हैं वे एक सामान्य मजिस्ट्रेट की तरह कार्य कर रहे हैं। उन्हें बाल मनोविज्ञान अथवा बाल-कल्याण का कोई ज्ञान नहीं होता है। किशोर की जाँच वे इस प्रकार कर रहे हैं जैसे कि वह कोई सामान्य अपराधी हो। अधिनियम की धारा 13 यह उपबन्धित करती है कि किशोर के मामले की जाँच चार महीने में समाप्त कर देनी चाहिए। परन्तु आज भी किशोर को किशोर घोषित करने में वर्ष बीत जाते हैं और इस जटिल प्रक्रिया में किशोर को इस अधिनियम के लुभावने प्रावधान से वंचित होना पड़ रहा है। देखना है कि अधिनियम में किशोरों के लिये कल्याणकारी प्रावधान कब उनके लिये कल्याणकारी सिद्ध होता है।

किशोर की जाँच के अनुक्रम में समक्ष पदाधिकारी की शक्तियाँ-सक्षम पदाधिकारी (competent authority) की परिभाषा किशोर न्याय बालकों की देखदेख और संरक्षण) अधिनियम 2000 की धारा (g) के अन्तर्गत इस प्रकार किया गया ''सक्षम पदाधिकारी'' से ऐसे बालकों के सम्बन्ध में

जिनके लिए देखरेख और संरक्षण की आवश्यकता है समिति (committee) और किशोरों के सम्बन्ध में जिनका विधि से संघर्ष है, बोर्ड (Board) अभिप्रेत है।

उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि ऐसे बालक जिनके लिए देखरेख और संरक्षण की आवश्यकता है, सक्षम पदाधिकारी (competent authority), समिति (committee) तथा विधि विवादित किशोर के लिए सक्षम पदाधिकारी (competent authority) तथा बोर्ड (Board) है।

बोर्ड की परिभाषा किशोर न्याय (बालकों की देख-रेख और संरक्षण) अधिनियम 2000 की धारा 4 में की गई है। इस धारा के अनुसार, बोर्ड का तात्पर्य राज्य सरकार द्वारा गठित तीन सदस्यों की एक पीठ से है जो विधि विवादित किशोर (Juvenile in conflict within law) के सम्बन्ध में इस अधिनियम के अधीन अपनी अधिरोपित शक्तियों का प्रयोग और कर्तव्यों का निर्वहन करने के लिये गठित किया गया है। इस बोर्ड को किशोर न्याय बोर्ड कहा जाता है। किशोर न्याय बोर्ड की शक्तियों का उल्लेख अधिनियम की धारा 6 के अन्तर्गत किया गया है। इस धारा में बोर्ड को अर्थात् किशोर न्यायालय की विधि विवादित किशोर के सम्बन्ध में इस अधिनियम के अधीन समस्त कार्यवाहियों से संव्यवहार करने की अनन्यतम शक्ति प्रदान की गई है। इसके अन्तर्गत बोर्ड को अर्थात् सक्षम पदाधिकारी को धारा 49 के अन्तर्गत किशोर की आय जाँच करने का अधिकर है कि तथाकथित किशोर किशोर है या नहीं। बोर्ड को किशोर की जाँच (inquiry) के सम्बन्ध में धारा 5 के अधीन बैठक में कार्य सम्पादन सम्बन्धित प्रक्रिया के नियमों का पालन करना है। अधिनियम की धारा 12 के तहत किशोरों के सम्बन्ध में बोर्ड अर्थात सक्षम पदाधिकारी की परिस्थिति के अनुसार उसे जमानत देने तथा न देने का अधिकार है। जहाँ बोर्ड यह समझती है कि किशोर को जमानत पर नहीं छोड़ा जा सकता है तो वैसी अवस्था बोर्ड उस किशोर को संप्रेक्षण गृह (observation home) या विशेष गृह (Special home) में उचित देख-रेख में रखने का आदेशपारित कर सकता है। अधिनियम की धारा 14 के तहत बोर्ड अपराध से आरोपित किशोर के अपराधके सम्बन्ध में जाँच करेगा कि उसने अपराध किया है या किशोर न्याय अधिनियम 2002 के अन्तर्गत किशोरों के लिए विशेष सुविधा प्रदान की गई है। अपराध करने वाले किशोर जब पुलिस द्वारा पकड़ा जायेगा तो उसे विशेष किशोर पुलिस यूनिट के पास भेज दिया जायेगा। 24 घंटे के भीतर उसे बोर्ड के समक्ष प्रस्तुत करेगा। परन्तु उसे जेल या लॉकअप में नहीं रखा जायेगा। वैसे किशोर को या तो जमानत पर छोड़ा जायेगा या उसे जाँच के दौरान प्रोबेशन पदाधिकारी या किसी उचित संस्था या उचित व्यक्ति के पास निगरानी में रखेगा। परन्तु उसे जेल या पुलिस की हिरासत में नहीं रखा जायेगा। अधिनियम की धारा 2 (K) के अनुसार, ऐसा किशोर जिसने 18 वर्ष की आयु प्राप्त नहीं की है, को किशोर माना गया है।

न्यायालय में यह विवाद का विषय हो सकता था कि जो किशोर जाँच के दौरान किशोर नहीं रह गया है उसे अधिनियम के उपरोक्त वर्णित प्रावधान का लाभ उपलब्ध नहीं होना चाहिये। न्यायालय में यह दलील दी जा सकती थी कि अधिनियम के उपरोक्त प्रावधान सिर्फ किशोर रहने तक ही लागू होंगे। किशोर के व्यस्क हो जाने पर ये प्रावधान उस पर लागू नहीं होंगे। विधायिका (Legislature) इस स्थिति से भलीभांति परिचित थी कि मामले का अन्वेषण एवं न्यायालय द्वारा जाँच में काफी विलम्ब हो सकता है और तब तक किशोर वयस्क हो सकता है। अत: विधायिका ने अधिनियम के उद्देश्य से अधिनियम की धारा 3 के अन्तर्गत विधिक कल्पना का सहारा लेते हुए यह प्रावधान बनाया कि जिस किशोर के विरुद्ध जाँच की कार्यवाही प्रारम्भ कर दी गई है और जाँच के दौरान वह व्यक्ति किशोर नहीं रह जाता है तो उस व्यक्ति के बारे में जाँच चालू रखी जायेगी और आदेश ऐसे दिये जायेंगे मानो कि वह व्यक्ति अभी भी किशोर ही है। इस सम्बन्ध में (Krishna Bhagwan V/s State of Bihar 1989 East India Criminal Pat 667) में पटना उच्च न्यायालय ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि अधिनियम की धारा 3 का लाभ जाँच प्रारम्भ होने के समय सिर्फ किशोर को ही नहीं प्राप्त होगा बल्कि उस व्यक्ति को भी यह लाभ प्राप्त होगा जो किशोर जाँच के दौरान वयस्क हो गया है। धारा 3 के प्रावधान से मिलता-जुलता

धारा 56 में विधायिका ने एक और विधिक कल्पना का सहारा लेते हुए किशोर अपराधी के हित की रक्षा के लिये यह प्रावधान बनाया है कि राज्य सरकार यह आदेश दे सकती है कि इस अधिनियम के लागू होने के समय यदि कोई किशोर दण्डादेश भोग रहा है तो ऐसे दण्डादेश भोगने के बजाय बचे हुए दण्डादेश की बची हुई अवधि के लिये उसे विशेष गृह या सुरक्षित स्थान पर भेजा जाये। इस अधिनियम के लागू होने के समय यदि कोई किशोर दण्डादेश भोग रहा है तो ऐसे दण्डादेश भोगने के बजाय बचे हुए दण्डादेश की बची हुई अवधि के लिये उसे विशेष गृह या सुरक्षित स्थान पर भेजा जाये। इस अधिनियम के उपबन्ध ऐसे लागू होंगे मानों कि यह आदेश किशोर न्यायालय द्वारा दिया गया है।

इस प्रकार धारा 3 के अन्तर्गत अधिनियम का लाभ वैसे किशोर के लिये उपलब्ध है जो जाँच के दौरान वयस्क हो गये हैं। इतना ही नहीं धारा 56 के अन्तर्गत वैसे किशोर को भी अधिनियम का लाभ प्रदान किया गया है जो इस अधिनियम के लागू होने के समय किसी अपराध कारावास के दण्डादेश को भोग रहे हैं।

किशोर न्याय अधिनियम 1986 के अधिनियमित किये जाने का मुख्य श्रेय सर्वोच्च न्यायालय के तत्काल मुख्य न्यायाधीश **श्री पी०एन० भगवती तथा न्यायमूर्ति श्री रंगनाथ मिश्र** को जाता है। महाराष्ट्र की एक समाजसेविका तथा पत्रकार शीला वर्षे ने महाराष्ट्र के किशोर कल्याण गृह में रहने वाले बालकों के शोषण के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में (A.I.R. 1986 S.C. 1773) गुहार लगाई। इस मामले की सुनवाई के पश्चात् मुख्य न्यायाधीश श्री भगवती एवं न्यायमूर्ति श्री रंगनाथ मिश्र ने यह महसूस किया कि किशोरों के लिये आपराधिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों के लिये पूरे देश में एक सामान्य न्याय प्रणाली का होना आवश्यक है। इस मामले में इन्होंने अपना मत व्यक्त करते हुए यह कहा कि–'बालक राष्ट्र की धरोहर हैं। यह बड़े दु:ख की बात है कि बालक की उचित देखरेख के बदले उन्हें जेल में अभ्यस्त कैदियों के साथ रखा जाता है। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह बालकों के व्यक्तित्व के विकास एवं चरित्र के निर्माण के लिये प्रयत्न करें। उन्होंने केन्द्रीय सरकार को इस सम्बन्ध में पूरे देश के लिये एक ऐसे समान कानून बनाने की सलाह दी जिसमें बालकों के लिये किशोर न्यायालय की स्थापना और स्पेशल कैडर के न्यायिक मजिस्ट्रेट को प्रशिक्षण देकर किशोरों के मामले की जाँच करने का प्रावधान हो। अपराधी एवं उपेक्षित अर्थात विधि विवादित एवं देखरेख एवं संरक्षण की आवश्यकता वाले किशोरों के पुनर्वास, नियोजन, व्यक्तित्व एवं चरित्र के विकास की योजना बनाने तथा उसे कार्यान्वित करने की सलाह दी गयी। इनकी उपरोक्त सलाह पर केन्द्रीय सरकार ने संसद के दोनों सदनों से पास कराकर किशोर न्यायालय अधिनियम 1986 को पारित किया जो 2 अक्टूबर 1987 से लागू किया गया। इस अधिनियम में वैसे किशोरों के सुधार एवं बेहतर जीवन बनाने के सम्बन्ध में ध्यान दिया गया जो सामाजिक कुरीतियों के कारण या तो उपेक्षित हैं या जिसने अपराध किया है। अधिनियम में किशोर एवं उपेक्षित किशोरों की देखरेख के लिये किशोर गृह, वास की सुविधा, भरण-पोषण, शिक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण, पुनर्वास तथा उनके चरित्र एवं व्यक्तित्व के विकास का उपबन्ध किया गया है।

अधिनियम में अपराधी एवं उपेक्षित किशोर के लिये किशोर गृह की स्थापना, उपेक्षित एवं अपराधी किशोरों के चरित्र निर्माण एवं सुधार का दायित्व राज्य की सरकारों को सौंपा गया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस अधिनियम के अन्तर्गत किशोरों के प्रति जो दायित्व राज्य की सरकारों को सौंपा गया, राज्य की सरकार उसके प्रति उदासीन रही। अधिनियम के उपबन्धों को अनदेशी कर दी गई। ऐसे अवस्था के किशोर न्याय अधिनियम 1986 अपने उद्देश्य की प्राप्ति में असफल रहा। इस अधिनियम के उपबन्धों को राज्य की सरकार अगर ठीक तरीके से लागू करती तो वैसी अवस्था में उपेक्षित एवं अपराधी किशोरों के व्यवहार और चरित्र तथा उनके चरित्र के विकास में काफी सहायक सिद्ध होती।

किशोर अपचारिता एवं इसकी उत्पत्ति के प्रमुख कारक

किशोर दिमाग से अपरिपक्व होते हैं। उनमें सही और गलत करने के भेद के ज्ञान का अभाव होता है। ऐसी अवस्था में उन्हें गलत तरीके से जो चीज आसानी से प्राप्त हो जाती है उसके प्रति उसका आकर्षण बढ़ जाता है। उन्हें ये पता भी नहीं होता है कि वह जो कार्य कर रहा है, वह कानून के विरुद्ध है। इस प्रकार का विधि विरुद्ध कार्य बराबर करते रहने से उनके अन्दर ऐसे गलत कार्य करने की आदत हो जाती है तथा धीरे-धीरे यही आदत एक आपराधिक मानसिकता को जन्म दे देती है। किशोर के अन्दर की इसी मानसिकता को किशोर अपचारिता कहा जाता है। किशोर न्याय (बालकों की देखरेख और संरक्षण) संशोधन अधिनियम 2006 की धारा 2(1) में विधि के विरोध में किशोर के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि इसका तात्पर्य वैसे किशोर से है जिसने कि अपराध किया है तथा जिसने अह्ठारह साल की आयु प्राप्त नहीं की है।

किशोरों के अन्दर आपराधिक भावना के जन्म लेने के मुख्य रूप से तीन महत्वपूर्ण कारण हैं-पारिवारिक, सामाजिक तथा आर्थिक। किशोर के चरित्र-निर्माण की सबसे बड़ी संस्था खुद उसका घर-परिवार होता है। चरित्र का आचरण सबसे पहले वह अपने परिवार के माता-पिता से प्राप्त करता है। परिवार का आचरण अगर सदाचारी है तो आमतौर से बच्चे का आचरण भी सदाचारी होता है। अगर परिवार का आचरण सदाचारी नहीं होता है तो बच्चे के बिगड़ने की संभावना अधिक हो जाती है। बहुधा ऐसा पाया जाता है कि बच्चे अगर कोई चीज नाज़ायज तरीके से प्राप्त कर लेते हैं और उनके माता-पिता खुश होकर उसे घर में रख लेते हैं तो बच्चे में ऐसे गलत कार्य को फिर से करने का साहस बढ़ जाता है और धीरे-धीरे उसका चरित्र आपराधिक हो जाता है। किशोर के अन्दर आपराधिक प्रवृत्ति के जन्म लेने का दूसरा कारण उसके आस-पास का माहौल होता है। वह जिस समाज के अन्दर रह रहा है, उसका माहौल अगर अच्छा है तो बच्चे के बिगड़ने की संभावना कम हो जाती है। परन्तु माहौल अगर गड़बड़ है तो बच्चे के बिगड़ने की संभावना अधिक रहती है। क्योंकि बच्चे समाज द्वारा किये जाने वाले आचरण का अनुसरण तेजी से कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त परिवार की आर्थिक स्थिति भी बच्चे के चरित्र के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। परिवार की आर्थिक सम्पन्नता बच्चे को अच्छी शिक्षा देने में काफी योगदान करती है। कभी-कभी परिवार की आर्थिक रूप से दयनीय स्थिति के कारण भी बच्चे मजबूर होकर परिवार को आर्थिक रूप से सम्पन्न करने के उद्देश्य से गलत रास्ते को पकड़ लेते हैं और अपनी जिन्दगी के असल रास्ते से भटक जाते हैं तथा यही गलत रास्ता धीरे-धीरे बच्चे के अन्दर आपराधिक प्रवृति को जन्म दे देता है।

किशोर न्याय (बालकों की देखरेख और संरक्षण) अधिनियम 2000 के अन्तर्गत वैसे किशोरों के सुधार एवं बेहतर जीवन बनाने के सम्बन्ध में ध्यान दिया गया है जो सामाजिक कुरीतियों के कारण आपराधिक प्रवृति के हो गये हैं। अधिनियम की धारा 8 के अन्तर्गत विधि के विरोध में किशोरों की देखरेख के लिये तथा धारा 9 के अन्तर्गत इनके लिए विशेष गृह (special home) का प्रावधान किया गया है जहाँ उनके लिये वास की सुविधा, भरण-पोषण, शिक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण और पुनर्वास की सुविधा तथा उनके चरित्र और योग्यताओं के विकास की सुविधा का प्रावधान किया गया है। धारा 10 के अन्तर्गत अपचारी किशोर (Delinquent Juvenile) के रहने के लिये विशेषगृह का प्रावधान किया गया है जहाँ उनके चरित्र और योग्यताओं के विकास की सुविधा उपलब्ध कराने का इन्तजाम किया गया है। जो किशोर अनियंत्रित हैं, उन्हें संप्रेक्षण गृह (observation home) या सुरक्षित स्थान (Place of Safety) पर रखने का प्रावधान धारा 17 के अन्तर्गत किया गया है। इस अधिनियम के द्वारा उपेक्षित एवं अपराधी किशोरों के विकास, सुरक्षा, उपचार पुनर्वास, चरित्र एवं व्यक्तित्व का विकास तथा नियोजन के साधन को उपलब्ध कराने के उद्देश्य से पूरे देश में कल्याण अभिकरण को लगाया गया है। इस प्रकार इस अधिनियम के द्वारा

किशोरों द्वारा किये जाने वाले अपराधों की रोकथाम के लिये एक विशिष्ट नज़रिया को उपलब्ध कराया गया है ताकि उपेक्षित एवं अपचारी किशोरों को सामाजिक कुरीतियों से बचाया जा सके और उनका सर्वांगीण विकास हो सके।

किशोर न्याय अधिनियम के उद्देश्य एवं प्रयोजन

पुराने ज़माने में प्रत्येक घर बालक के लिए एक उत्तम देखरेख गृह माना जाता था। परन्तु जनसंख्या की वृद्धि एवं औद्योगिकरण के साथ माता-पिता अपनी व्यस्तता के कारण अपने बच्चे की देखरेख नहीं कर पा रहे हैं जिस कारण आज बच्चे की उपेक्षा हो रही है। इसी उपेक्षा के कारण बच्चे समाज की बुरी संगत में आ जाते हैं और इनके अपराधी हो जाने की संभावना बढ़ जाती है। बहुत सारे बालक जिन पर अपराध करने का आरोप लगाया जाता है, वे समाज की कुरीतियों का शिकार हो जाते हैं। यह समस्या आज पूरे देश की समस्या बन गई है। इस समस्या से निपटने के लिये केन्द्रीय विधायिका ने पूरे देश के लिए किशोर न्याय अधिनियम 1986 का गठन किया है।

पुन: सन् 2000 में किशोर न्याय अधिनियम 1986 में सुधार लाकर किशोर न्याय (बालकों की देखरेख और संरक्षण) अधिनियम 2000 पारित किया गया। इस अधिनियम में पुन: 2006 में किशोर न्याय (बालकों की देखरेख और संरक्षण) संशोधन अधिनियम 2006 के द्वारा बालकों के संरक्षण के लिये बेहतर प्रावधान किये गये। इस अधिनियम में किशोरों के सम्बन्ध में प्रस्तावित विधायन का लक्ष्य निम्नलिखित प्रयोजनों को प्राप्त करना है-

(i) देश के विभिन्न राज्यों में किशोरों के सम्बन्ध में विधियाँ एक समान नहीं थी। अत: किशोरों के प्रति न्याय के लिये एक विधिक ढाँचा बनाना ताकि पूरे देश में किशोरों की एक विधि हो और उन्हें न्याय भी एक समान मिल सके।

(ii) 18 वर्ष से कम आयु के किशोरों को जेल में रखने के बदले उसे बालगृह, संप्रेक्षण गृह, आश्रय गृह या विशेष गृह में रखने तथा उनके पुनर्वास का प्रबन्ध करने एवं किशोर न्याय बोर्ड का गठन करने का प्रावधान किया गया ताकि किशोरों के मामले का निपटारा किशोर न्याय बोर्ड द्वारा हो सके, अन्य सामान्य आपराधिक न्यायालय द्वारा नहीं।

(iii) विधि के विरोध में किशोरों द्वारा किये जाने वाले अपराधों की रोकथाम के लिये एवं उनके उपचार के लिये तथा बालकों की देखरेख और संरक्षण वाले बालक के लिये एक विशिष्ट नज़रिया का उपलब्ध कराया जाना ताकि उस किशोर को सामाजिक कुरीतियों से बचाया जा सके तथा उसका सर्वांगीण विकास हो सके।

(iv) किशोर न्याय-प्रणाली के अन्तर्गत आने वाले देश के विभिन्न वर्गों के विधि के विरोध वाले किशोर और बालक जिसकी देखरेख और संरक्षण की आवश्यकता वाले किशोरों के व्यक्तित्व के विकास, नियोजन का अवसर एवं उनकी सुरक्षा के लिए सरकारी तंत्र को कार्यान्वित करना। अधिनियम में आश्रय गृह, बालक गृह, विशेष गृह इत्यादि के निर्माण का प्रावधान करना ताकि अधिनियम अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर सके।

(v) अन्वेषण, न्याय निर्णय, उपचार तथा पुनर्वास के माध्यम से किशोर के न्याय के प्रशासन हेतु एक मापदण्ड स्थापित करना।

(vi) किशोर न्याय-प्रणाली तथा स्वैच्छिक अभिकरण के बीच वधि के विरोध में किशोर के उत्थान एवं उसकी समस्या के निदान के लिए सम्बन्ध स्थापित करना। इस अधिनियम के द्वारा विधि के विरोध में तथा बालक जिसके देखरेख तथा संरक्षण की आवश्यकता है, के विकास, पुनर्वास, सुरक्षा एवं उपचार के लिए पूरे राष्ट्र के कल्याण अभिकरण को लगाना।

(vii) किशोरों के लिए विशेष उपचार का प्रबन्ध करना तथा उनके लिये सजा का विशेष प्रबन्ध करना।

(viii) संयुक्त राष्ट्र के मापदण्ड के अनुसार पूरे देश में एक समान किशोरों के न्याय-प्रशासन की प्रणाली को स्थापित करना।

(ix) किशोर राष्ट्र की धरोहर होते हैं। अत: इनकी देखरेख एवं व्यक्तित्व के विकास के लिये राज्य के ऊपर दायित्व अधिरोपित करना।

जहाँ तक अधिनियम में वर्णित प्रावधानों एवं इसके उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रश्न है तो अभी तक इस अधिनियम के अधिकतम प्रावधान अपने उद्देश्य की प्राप्ति में असफल रहा है। ये प्रावधान सिर्फ अधिनियम को सुशोभित कर रहे हैं। अभी भी किशोरों के मामलों का निष्पादन एक सामान्य अपराधी की तरह किया जा रहा है। बालक जिनको देखरेख एवं संरक्षण की आवश्यकता है, के लिए कोई भी कदम नहीं उठाया गया है। अभी भी ऐसे बालक सड़कों पर भीख मांग रहे हैं और आम जिन्दगी में उनका शोषण हो रहा है। किशोर जिसे राष्ट्र की धरोहर कहा जाता है उनके श्रम का शोषण हो रहा है। किशोरों द्वारा अपराध किये जाने की संख्या बढ़ रही है। उनके ठोस भविष्य के निर्माण के लिये आज कोई सरकार जागरूक नहीं है और न उस न्यायालय की स्थापना हो सकी जिसकी कल्पना न्यायमूर्ति श्री पी०एन० भगवती ने शीला वर्षे के मामले में किया था। राज्य सरकार की कार्यपालिका के अधिकारी एवं मंत्री अपनी व्यवस्था में जुटे हैं। किशोरों के कल्याण के सारे उपबन्ध अधिनियम की चारदीवारी में बन्द है। ऐसी व्यवस्था में अधिनियम के उपबन्ध गिनती के लिये सरकार की उपलब्धि होगी।

3.11. किशोर न्याय अधिनियम 1986 की विशेषताएँ

(Characteristics of Juvenile Justice Act 1986)

किशोर चाहे उपेक्षित हों या अपचारी, इनकी समस्या काफी पुरानी है। किशोर देश के भविष्य होते हैं। अगर आज का किशोर उपेक्षा के कारण या वास्तविक देखरेख की कमी के कारण अपचारी हो जाता है तो खुद समाज इसका शिकार हो जाता है। ऐसे में उनका भविष्य तथा समाज एवं देश का भविष्य अन्धकारमय हो सकता है। सर्वोच्च न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश एवं विधिवेत्ता श्री पी०एन० भगवती का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। **Sheela Barse V/s Union of India & Other (A.I.R. 1986 S.C. 1773)** के मामले में न्यायमूर्ति श्री भगवती एवं श्री रंगनाथ मिश्र की न्याय खंडपीठ ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है-'बालक राष्ट्र का धरोहर होता है और यह बड़े दु:ख की बात है कि बालक की उचित देखरेख के बदले उन्हें जेल में रखा जाता है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा उपरोक्त मामले में किशोरों के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार को यह सलाह दी गई कि किशारों के लिये एक केन्द्रीय विधि बनाई जाए ताकि किशोरों के सम्बन्ध में सारे देश की विधि एक हो सके। सर्वोच्च न्यायालय ने केन्द्र सरकार को सलाह दी कि 18 वर्ष से कम आयु के किशोरों के अपराध के सम्बन्ध में सिर्फ अन्वेषण या जाँच का ही कानून न बनाए बल्कि आवश्यक रूप से उसके लिए सामाजिक मनोवैज्ञानिक एवं पुनर्वास की भी व्यवस्था करे। यह कानून सिर्फ आपराधिक किशोरों के सम्बन्ध में ही न हो बल्कि वैसे किशोरों के लिये भी बनाया जाए जो उपेक्षित हैं। सर्वोच्च न्यायालय के उपरोक्त सुझाव के पश्चात् संसद ने किशोर न्याय अधिनियम 1986 **(Juvenile Justice Act 1986)** को पारित कर दिया तथा राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त करने के पश्चात् गज़ट में प्रकाशित कर इसे 2 अक्टूबर, 1987 को जम्मू कश्मीर को छोड़कर सम्पूर्ण भारत के लिए लागू कर दिया।

किशोर न्याय अधिनियम 1986 को सन् 2000 में संशोधन लाकर इस अधिनियम का नाम किशोर न्याय (बालकों की देखरेख और संरक्षण) अधिनियम 2000 कर दिया गया। पुन: इसे सन् 2006 में

संशोधित किया गया। इस अधिनियम में थोड़ा बहुत परिवर्तन किया गया। परन्तु इसमें 1986 के अधिनियम की ही मूल बातों को रखा गया।

इस अधिनियम की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार की हैं -

(i) किशोर न्याय अधिनियम 1986 का प्रावधान ऐसा लड़का जिसने सोलह वर्ष की आयु प्राप्त नहीं की है तथा ऐसी लड़की जिसने अठारह वर्ष की आयु प्राप्त नहीं की है, पर लागू होगा। (सन् 2000 के अधिनियम में लड़का तथा लड़की दोनों के लिये आयु सीमा 16 वर्ष से बढ़ाकर 18 वर्ष कर दी गयी है।)

(ii) इस अधिनियम की एक महत्वपूर्ण विशेषता धारा 3 है जिसमें इस बात का प्रावधान किया गया है कि जिस किशोर के विरुद्ध जाँच की कार्यवाही प्रारम्भ कर दी गई है और जाँच के दौरान वह व्यक्ति किशोर नहीं रह जाता है, तो भी उस व्यक्ति के बारे में जाँच ऐसे चालू रखी जाएगी और आदेश ऐसे दिये जायेंगे कि मानो वह व्यक्ति अभी भी किशोर ही है। धारा 3 में विधायिका ने विधिक कल्पना की सहायता लेते हुए यह विधि बनायी कि किशोर का किशोर नहीं रह जाने पर भी अर्थात् वयस्क हो जाने पर भी उसके मामले की जाँच ऐसे की जाएगी मानों कि वह किशोर है। सन् 2000 के अधिनियम में भी किशोरों के जाँच के सम्बन्ध में यही व्यवस्था रखी गई।

(iii) किशोर न्याय अधिनियम 1986 में वैसे किशोरों सुधार एवं बेहतर, जीवन बनाने के सम्बन्ध में ध्यान दिया गया है जो सामाजिक कुरीतियों के कारण या तो उपेक्षित है या जिसने अपराध किया है। उपेक्षित किशोरों के मामले की जाँच एवं अन्य कार्यवाही किशोर कल्याण बोर्ड द्वारा की जाएगी। सन् 2000 के अधिनियम में अब इसका नाम किशोर न्याय बोर्ड रखा गया है। उपेक्षित किशोरों के मामले की जाँच की प्रक्रिया में बोर्ड के सदस्यों को दण्ड एंहिता के अधीन मजिस्ट्रेट की शक्तियाँ प्राप्त होंगी। अपराधी किशोरों के मामले की जाँच किशोर न्यायालय द्वारा की जाएगी।

(iv) अधिनियम में उपेक्षित किशोरों की देखरेख के लिए धारा 9 के अन्तर्गत किशोर गृह (Juvenile home) का प्रावधान किया गया है जहाँ उनके लिए वास की सुविधा, भरण-पोषण, शिक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण और पुनर्वास की सुविधा तथा उनके चरित्र और योग्यताओं के विकास की सुविधा की भी व्यवस्था रहेगी। धारा 10 के अन्तर्गत अपचारी किशोरों को रखने के लिए विशेष गृह का प्रावधान किया गया है जहाँ उनके चरित्र और योग्यताओं के विकास की सुविधा उपलब्ध की जाएगी। जो किशोर अनियंत्रित हैं उन्हें संप्रेक्षण गृह (Observation home) या सुरक्षित स्थान (Place of Safety) पर रखने का प्रावधान धारा 17 के अन्तर्गत किया गया है।

(v) अधिनियम की धारा 18 के अधीन अपराधी किशोर के लिये जमानत का प्रावधान किया गया है। जमानतीय या गैर-जमानतीय अपराध के मामले में किशोर को जमानत पर रिहा किये जाने का भी प्रावधान किया गया है। किशोर को जमानत पर तभी रिहा नहीं किया जाएगा जब न्यायालय को यह विश्वास करने का प्रत्यक्ष कारण होगा कि रिहा करने पर किशोर की संगति किसी प्रसिद्ध अपराधी से होगी और उसे नैतिक खतरा हो सकता है या उसके छोड़े जाने पर न्याय का उद्देश्य विफल हो जाएगा। किशोर को ज़मानत पर रिहा नहीं करने पर भी उन्हें जेल नहीं भेजा जाएगा। बल्कि उन्हें विशेष गृह या सुरक्षित स्थान या संप्रेक्षण गृह में रख जाएगा। सन् 2000 के अधिनियमों में भी ज़मानत की यही व्यवस्था है। सन् 2000 के अधिनियम में अपराधी किशोर के स्थान पर किशोर का नाम विधि विवादित किशोर रखा गया है।

(vi) अधिनियम की धारा २१ के अन्तर्गत यह प्रावधान किया गया है कि अगर किशोर को किसी अपराध का दोषी पाया गया है तो न्यायालय उसे-

(क) भर्त्सना पर छोड़ सकता है।

(ख) सदाचार की परिवीक्षा पर माता-पिता, संरक्षक या अन्य योग्य व्यक्ति को किशोर के सदाचार और उसकी भलाई के लिए दिये गये आश्वासन पर छोड़ सकता है।

(ग) किशोर को तीन साल तक की अवधि के लिये सदाचार की परिवीक्षा पर किसी योग्य संस्था की देखरेख में किशोर के अच्छे व्यवहार के लिये छोड़ने का आदेश पारित कर सकता है।

(घ) उसे विशेष गृह में भेजने का आदेश दे सकता है।

(vii) इस अधिनियम के लागू हो जाने से किशोर के सम्बन्ध में पूरी देखरेख की विधिक न्याय प्रणाली एक समान हुई है। अत: यह अधिनियम इस विषय पर विधि के अन्य प्रावधान जैसे बालक अधिनियम 1960 (Children Act 1960) तथा राज्य के अन्य प्रावधान का स्थान ले लिया है। यह अधिनियम किशोर सम्बन्धी अन्य विधियों के प्रावधान पर अधिभावी हुआ है।

(viii) यह अधिनियम किशोरों के सम्बन्ध में अपने आपमें एक पूर्ण संहिता है तथा इस अधिनियम ने किशोरों के विचारण में पूरे प्रशासन तंत्र को लगाया है।

(ix) इस अधिनियम के द्वारा उपेक्षित एवं अपराधी किशोरों के विकास, सुरक्षा, उपचार, पुनर्वास, चरित्र एवं व्यक्तित्व का विकास तथा नियोजन के साधन को उपलब्ध कराने के उद्देश्य से पूरे राष्ट्र के कल्याण अभिकरण (Welfare agency) को लगाया गया है।

(x) अधिनियम की धारा 23 के अंतर्गत यह प्रावधान किया गया है कि किशोर के विरुद्ध दण्ड प्रक्रिया संहिता के अध्याय (viii) के अधीन धारा 107 की कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती है।

(xi) अधिनियम की धारा 24 के अन्तर्गत यह प्रावधान किया गया है कि कोई किशोर किसी ऐसे व्यक्ति के साथ जो किशोर नहीं हैं अर्थात् वयस्क के साथ किसी अपराध के लिए आरोपित या विचारित नहीं किया जाएगा। अगर किशोर के अपराध का आरोप किसी वयस्क अपराधी के साथ किया जाता है तो न्यायालय उस किशोर का विचारण वयस्क से पृथक करेगा।

(xii) अधिनियम की धारा 26 के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई है कि अधिनियम के लागू होने की तिथि को यदि किसी किशोर का मामला न्यायालय में लम्बित है तो वह मामला उस न्यायालय में चलता रहेगा। न्यायालय द्वारा उस किशोर को दोषी पाये जाने पर वह न्यायालय उस किशोर के विरुद्ध आवश्यक आदेश पारित करने के लिये मामले को किशोर न्यायालय में भेज देगा।

किशोर न्याय (बालकों की देखरेख और संरक्षण) अधिनियम 2000

किशोर राष्ट्र की धरोहर माने जाते हैं, क्योंकि ये देश के कल के भविष्य हैं। अगर इनमें से कोई गड़बड़ी पैदा हो गयी है तो इन्हें सुधारा जा सकता है क्योंकि इनमें सुधरने की संभावना अधिक होती है। अगर इनका भविष्य अंधकारमय होता है तो देश का भविष्य भी अन्धकारमय हो जायेगा। इन्हीं सब कारणों से सर्वोच्च न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश श्री पी०एन० भगवती एवं न्यायाधीश श्री रंगनाथ मिश्र ने **शीला वर्षे बनाम भारत संघ (A.I.R. 1986 S.C. 1773)** के मामले में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया–''बालक राष्ट्र की धरोहर हैं। यह बडे दु:ख की बात है कि बालक की उचित देखरेख के बदले इन्हें जेल में अपराधियों के साथ मिलकर रहना होता है। श्री भगवती ने केन्द्र सरकार को इस सम्बन्ध में कानून बनाने की आवश्यकता पर बल दिया। परिणामस्वरूप पहली बाल किशोरों की उचित देखरेख एवं संरक्षण के लिये तथाउनके चरित्र के विकास के लिए पूरे भारतवर्ष में एक कानून किशोर न्याय अधिनियम 1986 बनाया गया। इस कानून का स्थान किशोर न्याय (बालकों की देखरेख और संरक्षण) अधिनियम 2000 ने लिया। अधिनियम में अपराधी किशोर (विधि विवादित किशोर) तथा उपेक्षित किशोर (बालकों को देखरेख और संरक्षण) की सुरक्षा एवं उपचार के लिए अनेक उपबन्ध बनाये गये। इसके अतिरिक्त अधिनियम की धारा 64 में वैसे किशोरों के लिये भी उपबन्ध बनाये गये जो इस अधिनियम के पारित होने से पूर्व जेल में सजा भोग रहे थे। इस धारा के अनुसार–(1) जहाँ यह अधिनियम लागू किया गया है वहाँ की राज्य सरकार या स्थानीय प्राधिकारी यह निर्देश दे सकता है कि कोई विधि विवादित किशोर जो इस अधिनियम के लागू होने के समय जेल में दण्ड की सजा भोग रहा है, वह बालक जेल में दण्ड भोगने के

बजाय बचे हुए दण्डादेश के समय के लिए विशेषगृह या योग्य संस्था में रखा जायेगा और इस अधिनियम के उपबन्ध उस किशोर पर ऐसे लागू होंगे मानों यह आदेश बोर्ड द्वारा अधिनियम की धारा 16(2) के अन्तर्गत किया गया है।

इस प्रकार अधिनियम वैसे विधि विरुद्ध किशोर के लिए मार्ग प्रशस्त किया है जो जेल में अधिनियम के लागू होने के पूर्व से दण्ड की सजा काट रहे हैं।

किशोर न्याय अधिनियम 2000 के तहत अपील से सम्बन्धित प्रावधान

अधिनियम की धारा 52 के अन्तर्गत सक्षम प्राधिकारी अर्थात् किशोर न्याय बोर्ड के आदेश के विरुद्ध अपील करने की व्यवस्था की गई है। इस धारा के अनुसार,

(1) इस अधिनियम के अधीन सक्षम प्राधिकारी के द्वारा किये गये आदेश से असंतुष्ट व्यक्ति इस आदेश की तिथि से तीस दिन के भीतर सत्र न्यायालय में अपील दायर कर सकता है।

परन्तु सत्र न्यायाधीश उस अपील की उक्त तीस दिन की अवधि की समाप्ति के पश्चात् भी सुनवाई के लिये ग्रहण कर सकता है, जब वह इस बात से संतुष्ट हो जाता है कि समय पर अपील दायर न कर सकने का अपीलार्थी के पास पर्याप्त कारण है।

(2) निम्नलिखित आदेश के विरुद्ध कोई अपील नहीं होगी–

(a) किशोर न्याय बोर्ड द्वारा किशोर के लिए दोषमुक्ति का आदेश जिसमें किशोर पर यह आरोप था कि उसने कोई अपराध किया है, या

(b) समिति के द्वारा वैसे बालक जिनकी देखरेख की आवश्यकता है, के सम्बन्ध में दिया गया आदेश कि वह व्यक्ति उपेक्षित किशोर नहीं है।

(3) इस धारा के तहत सत्र न्यायाधीश द्वारा अपील में किये गये आदेश के विरुद्ध कोई द्वितीय अपील नहीं की जा सकती है।

इस प्रकार सक्षम प्राधिकारी के आदेश के विरुद्ध अपील आदेश की तिथि से तीस दिन के भीतर लायी जा सकती है। परन्तु यदि विलम्ब से अपील दायर करने का पर्याप्त कारण है तो सत्र न्यायाधीश तीन दिन के पश्चात् भी अपील सुनवाई के लिये ग्रहण कर सकता है। इस अधिनियम के तहत सत्र न्यायाधीश द्वारा अपील में पारित आदेश के विरुद्ध द्वितीय अपील नहीं की जा सकती है। इस प्रकार प्रथम अपील में सत्र न्यायाधीश द्वारा दिया गया आदेश निश्चायक होता है।

अधिनियम के अन्तर्गत पुनरीक्षण का प्रावधान धारा 53 के अन्तर्गत इस प्रकार किया गया है–

उच्च न्यायालय जाँच की कार्यवाही के दौरान किसी भी समय स्वप्रेरणा से या पक्षकार के आवेदन पर ऐसी कार्यवाही का अभिलेख जिसमें किसी सक्षम पदाधिकारी या सत्र न्यायाधीश द्वारा कोई आदेश पारित किया गया है, उस आदेश की वैधता या औचित्य के बारे में अपने को संतुष्ट करने के प्रयोजन से अभिलेख अपने पास मंगा सकेगा तथा उसके सम्बन्ध में ऐसा आदेश करेगा जैसा वह उचित समझे।

परन्तु उच्च न्यायालय द्वारा इस धारा के अधीन किसी व्यक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला आदेश केवल तभी पारित किया जा सकता है जब ऐसे व्यक्ति की सुनवाई का युक्ति–युक्त अवसर प्रदान कर दिया गया हो।

इस प्रकार धारा 53 के अनुसार, पुनरीक्षण की शक्ति केवल उच्च न्यायालय को ही प्राप्त है। पुनरीक्षण के लिए आवेदन आदेश से व्यथित व्यक्ति कर सकता है या उच्च न्यायालय स्वप्रेरणा से कर सकता है। उच्च न्यायालय द्वारा पुनरीक्षण सक्षम प्राधिकारी के आदेश के विरुद्ध या सत्र न्यायाधीश के आदेश की वैधता या औचित्य के बारे में किया जा सकता है।

भारत में आज जितना शोषण एवं अत्याचार किशोरों के साथ हो रहा है उतना विश्व के किसी दूसरे देशों में नहीं हो रहा है। उपेक्षित किशोरों के साथ क्रूरता का व्यवहार किया जाता है। इन्हें समाज के असामाजिक तत्व भीख मांगने के लिए नियोजित करते हैं। इन्हें मादक पदार्थ के धन्धे में लगाया जाता है। इनके श्रम का शोषण किया जाता है तथा इनके द्वारा धन का उपयोग उनके किसी तथाकथित रिश्तेदारों द्वारा कर लिया जाता है। ये सारे कार्य किशोरों के प्रति इस अधिनियम के अर्न्तगत विशेष अपराध घोषित किये गये हैं। अत: किशोर न्याय (बालकों की देखरेख और संरक्षण) अधिनियम 2000 के अध्याय II के अन्तर्गत किशोंरों के प्रति होने वाले अत्याचार एवं शोषण की रोकथाम के उद्देश्य से धारा 23-24 तक में कुछ विशेष प्रावधान बनाए गये हैं तथा धारा 27 में ऐसे अपराध को संज्ञेय घोषित किया गया है। ये प्रावधान इस प्रकार है-

(1) किशोर के प्रति क्रूरता के दण्ड (Punishment for Cruelty of Juvenile)-अधिनियम की धारा 23 के अनुसार-

(i) जिस किसी व्यक्ति का किसी किशोर या बालक पर वास्तविक नियंत्रण है या उसके अधीन है और वह उस किशोर पर हमला (assault) करता है उनका परित्याग करता है, उसे नंगा (expose) करता है या जानबूझकर उपेक्षा करता है या उस पर ऐसा करने के लिए कोई कार्य करता है या साधन जुटाता है जिसमें उस किशोर को अनावश्यक रूप से मानसिक या शारिरिक कष्ट होता है तो उसे 6 मास तक के लिए कारावास से, जुर्माना से या दोनों से दण्डित किया जा सकता है।

(2) भीख मांगने के लिए किशोर का नियोजन (Employment of Juveniles for begging)-धारा 24 के अनुसार,

(i) जो कोई भीख मांगने के प्रयोजन से किसी किशोर या बालक को नियोजित करता है या भीख मांगने में उसे व्यवहार में लाता है या किसी किशोर से भीख मंगवाता है तो उसे तीन वर्ष तक की अवधि के कारावास से और जुर्माने से भी दण्डित किया जा सकेगा।

(ii) किशोर जो किसी के चार्ज में है या उस पर नियंत्रण रखे हुए है, उपधारा (1) के अधीन यदि दण्डनीय अपराध का दुष्प्रेषण (abets) करता है तो वह एक वर्ष तक की अवधि के कारावास से और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।

(3) किशोर को मादक या स्वापक औषधि या मन:प्रभावी पदार्थ देने के लिए दण्ड (Pentalty for giving Intoxicating liquor or Narcotic drug or Psycotropic substance to Juvenile)-धारा 25 के अनुसार,

जो कोई किशोर या बालक को योग्यता प्राप्त डॉक्टर की अनुमति के बिना या बीमारी से अन्यथा किसी किशोर को लोक स्थान में कोई मादक या स्वापक औषधि या कोई मन:प्रभावी पदार्थ देगा या दिखलाएगा तो वह तीन वर्ष तक के कारावास से तथा जुर्माने से दण्डित किया जायेगा।

(4) **किशोर या बाल कर्मचारियों का शोषण** (Exploitation of Juvenile employees)—धारा 26 के अनुसार;

जो कोई दृश्यमान रूप से किसी परिसंकटमय नियोजन के प्रयोजन के लिए किसी किशोर या बालक को प्राप्त करेगा तथा उसके द्वारा उपार्जित किये गये धन को रोक लेगा या उसके उपार्जन को स्वयं अपने उपयोग में लाएगा तो वह तीन वर्ष तक के कारावास की अवधि के लिए तथा जुर्माने से भी दण्डित किया जा सकता है।

सारांश (Summary)

- जब किसी व्यक्ति को किसी मामले में गिरफ्तारी की आशंका होती है तो वह व्यक्ति धारा 438 के अंतर्गत पूर्व अनुमानित जमानत के लिए सेशन न्यायालय या उच्च न्यायालय में ज़मानत की अर्जी पेश कर सकता है।
- गिरफ्तारी किसी व्यक्ति की दैहिक स्वतंत्रता का अवरोध है जो किसी न्यायालय के आदेश के पालन के लिए किया जाता है या किसी अपराध को रोकने के लिए किया जाता है या जिस व्यक्ति पर अपराध का आरोप है या अपराध करने की आशंका है।
- आरोप अभियुक्त के विरुद्ध लगाए गए इल्ज़ाम की एक सूचना है जिसका उद्देश्य है कि अभियुक्त को इस बात की जानकारी हो कि उसके विरुद्ध किस इल्ज़ाम के लिए मुकदमा चलाया जा रहा है ताकि वह इसका खंडन करने में समर्थ हो सके।
- जब किसी व्यक्ति को युक्ति-युक्त इस बात की आशंका हो कि उसे किसी गैर-जमानतीय अपराध में गिरफ्तार कर लिया जाएगा और ऐसी गिरफ्तारी होने की आशंका के आधार पर जब वह जमानत पर रिहा करने का कोई आवेदन देता है और न्यायालय उस आवेदन पर जब उसकी गिरफ्तारी की स्थिति में जमानत या अग्रिम जमानत पर उसे छोड़ देने का आदेश जारी करती है तो ऐसे आदेश को पूर्व अनुमानित जमानत कहा जाता है।
- देश के प्रत्येक व्यक्ति को संविधान के अनुच्छेद 21 के अंतर्गत सम्मानपूर्वक जीने का अधिकार है, चाहे वह कैदी या बंदी ही क्यों न हो।

अभ्यास-प्रश्न (Questions)

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. 'आरोप' से आपका क्या तात्पर्य है? संक्षेप में लिखिए।

2. गिरफ्तारी से आप क्या समझते हैं/

3. अन्वेषण, जाँच और विचारण के बीच अंतर स्पष्ट करो।

4. किसी व्यक्ति की वारंट के साथ या बगैर वारंट के गिरफ्तारी के संबंध में विधि के विभिन्न प्रावधानों को लिखें।

5. जमानत से आपका क्या अभिप्राय है? अग्रिम ज़मानत कब लिया जा सकता है?

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. निम्नलिखित पर टिप्पणी कीजिए-

   (a) अग्रिम ज़मानत (b) दोहरे दंड से संरक्षण

   (c) अभिलेख न्यायालय (d) बाल-न्यायालय

2. दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 211 के अंतर्गत आरोप का वर्णन करें।

3. व्यक्तिगत बाल-अपराध का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

4. बाल-न्यायालय के गठन का वर्णन करें।

5. न्यायालय की दंड पारित करने की शक्तियों का वर्णन कीजिए।

बहु-विकल्पीय प्रश्न

1. आरोप अभियुक्त के विरुद्ध लगाये गये ..... की एक सूचना है।

   (a) सूचना (b) पुष्टि

   (c) विचारण (d) इनमें से कोई नहीं

2. गिरफ्तारी से बचने के लिए व्यक्ति ..... के अन्तर्गत न्यायालय में आवेदन कर सकता है।

   (a) धारा 125 (b) धारा 238

   (c) धारा 438 (d) इनमें से कोई नहीं

3. अग्रिम जमानत कौन दे सकता है .....

   (a) सेशन न्यायालय (b) उच्च न्यायालय

(c) दोनों (a) तथा (b) (d) इनमें से कोई नहीं

4. दण्ड संहिता के अन्तर्गत मजिस्ट्रेट द्वारा किसी मामले मे साक्ष्य एकत्र करने को ..... कहा जाता है।
   (a) विचारण (b) जाँच
   (c) अनुसंधान (d) इनमें से कोई नहीं
5. अनुसंधान एक ..... कार्यवाही है जबकि जॉच एक ..... कार्यवाही है।
   (a) गैर न्यायिक, न्यायिक (b) न्यायिक, गैर न्यायिक
   (c) न्यायिक, न्यायिक (d) इनमें से कोई नहीं
6. जाँच का उद्देश्य ..... है।
   (a) साक्ष्य एकत्र करना (b) तथ्यों की सत्यता निश्चित करना
   (c) न्याय देना (d) इनमें से कोई नहीं
7. न्याय देना उददेश्य है ..... का
   (a) विचारण (b) अनुसंधान
   (c) जाँच (d) न्यायालय का
8. गिरफ्तारी है ..... का अवरोध
   (a) दैहिक स्वतंत्रता (b) धार्मिक स्वतंत्रता
   (c) मानसिक स्वतंत्रता (d) इनमें से कोई नहीं

उत्तर

1. (a) 2. (c) 3. (c) 4. (b) 5. (a) 6. (b) 7. (a) 8 (a)

❑❑❑

इकाई (Unit)

4

विधिक (कानूनी) सहायता

(LEGAL AID)

संरचना

- उद्देश्य (Objectives)
- परिचय (Introduction)
- विधिक सहायता (Legal Aid)
- विधिक सहायता की आवश्यकता एवं इतिहास (Need & History of Legal Aid)
- विधिक सहायता स्कीम एवं समस्यायें (Legal Aid Scheme & Problems)
- लोकहितकारी वाद (Public Interest Litigation
- भारत के सन्दर्भ में लोकहितवाद का इतिहास (History of Public Interest Litigation with Special reference to India)
- सारांश (Summary)
  अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

4.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय का अध्ययन करने के पश्चात् आप निम्नलिखित बिन्दुओं को समझ पाऐंगे –

- लोकहितकारी वाद (PIL)
- लोकहित से संबंधित बातों की जानकारी प्राप्त करना।

4.2. परिचय (Introduction)

सन् 1976 में 42वें संविधान संशोधन द्वारा अनुच्छेद 39क जोड़ा गया है, जिसमें राज्यों का यह दायित्व सुनिश्चित करने का प्रावधान किया गया है कि कोई भी नागरिक जो आर्थिक या अन्य अक्षमताओं के कारण न्यास से वंचित हो रहा है तो उसे राज्य द्वारा विधिक अर्थात कानूनी सहायता प्रदान की जायेगी।

हमारे संविधान की उद्देशिका (Preamble) में समाज के हर वर्ग के लोगों, चाहे वे सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनैतिक रूप से किसी भी वर्ग से सम्बन्ध रखते हों, को एक समान न्याय देने की बात कही गयी है। यह हमारी न्यायिक व्यवस्था एवं न्यायिक तन्त्र में नागरिकों का विश्वास ही है कि कोई भी निर्णय हो वह उनके सर–आँखों पर होता है। न्याय प्रणाली में यह विश्वास बना रहे तथा सभी को न्याय पाने के शीघ्र तथा समुचित अवसर मिले, इसके लिए हमारे संविधान में उचित व्यवस्था की गई है।

4.3. विधिक सहायता (Legal Aid)

संविधान के अनुच्छेद 39क में सभी के लिए न्याय सुनिश्चित किया गया है तथा मुख्य रूप से गरीबों तथा समाज के निचले तबके के लोगों के लिए नि:शुल्क न्याय की व्यवस्था तथाकानूनी सहायता की बात कही गयी है। इतना ही नहीं संविधान के अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद 2(1) के तहत गिरफ्तार किये गये व्यक्ति को भी अपनी पसंद का वकील चुनने तथा उससे परामर्श लेने का अधिकार प्राप्त है। अगर उसे

किसी प्रकार की कानूनी सहायता भी चाहिए तो यह राज्य का दायित्व होगा कि वह उसे समान अवसर सुनिश्चित करते हुए विधिक सहायता मुहैया करवाये।

विधिक सेवा प्राधिकरण (Legal Service Authority)

समानता के आधार पर कमजोर वर्ग के लोगो के लिए सरकार ने वर्ष 1987 में विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम पारित किया। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित का गठन किया—

(i) राष्ट्रीय विधिक सेवा प्राधिकरण

(ii) राज्य विधिक सेवा प्राधिकरण

(iii) जिला विधिक सेवा प्राधिकरण

उपरोक्त सभी संस्थाओं का एक ही मुख्य उद्देश्य है कि लोगों के बीच कानूनी सहायता कार्यक्रमों एवं योजनाओं का क्रियान्वयन करवाया जाए तथा नि:शुल्क कानूनी सहायता वंचित लोगों तक पहुँचायी जाये।

4.4. विधिक सहायता की आवश्यकता तथा इतिहास
(Need and History for Legal Aid)

यदि कोई व्यक्ति निर्धन, अशिक्षित, अति पिछड़ा, वंचित या शोषित है अथवा उसे अपने अधिकारों बारे में नहीं पता है तो ऐसी परिस्थिति में हमारा यह कर्त्तव्य है कि उन्हें न सिर्फ उनके अधिकारों के बारे में बतायाजाये अपितु उन्हें वह सारी जानकारी भी उपलब्ध करायी जाये जिससे वह सरलता से कानूनीसहायता प्राप्त कर सके। देखा जाये तो सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालय ने भी कानूनी सहायता अथवा कानूनी जागरूकता की बात की है। सन् 1980 में माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने ''खत्री बनाम बिहार राज्य'' वाद में यह निर्णय दिया कि किसी भी अभियुक्त, जो आर्थिक रूप से कमजोर अथवा असहाय हो, को यदि न्यायालय में पेश किया जाता है तो यह सनिश्चित करना न्यायधीश का संवैधानिक कर्त्तव्य है कि उसे नि:शुल्क कानूनी सहायता प्रदान हो रही है अथवा नहीं। यदि नहीं, तो वह राज्य सरकार को आदेशदे सकता है कि उसे परामर्श के लिए यथाशीघ्र वकील मुहैया कराया जाये जिसके खर्च का वहन राज्य सरकार अपने सरकारी खजाने से करेगी।

ऐसा ही एक वाद १९८३ में ''शीला वारसे बनाम महाराष्ट्र राज्य'' सामने आया था जिसमें माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था कि यह पुलिस का संवैधानिक कर्त्तव्य है कि गिरफ्तारी के तुरंत बाद व्यक्ति को निकटतम विधिक सहायता केन्द्र की सूचना दी जाये ताकि वह समय पर कानूनी सहायता प्राप्त कर सके।

परन्तु उपरोक्त तमाम व्यवस्था/निर्णयो के पश्चात् भी स्थिति में अधिक सुधार नहीं हुआ है। नि:संदेह हमारी कानून व न्याय व्यवस्था पहले के मुकाबले अधिक सुदृढ़ हुई है, फिर भी निर्धन एवं सामाजिक रूप से पिछड़े लोगों तक न्याय तथा जागरूकता आसानी से सुलभ नहीं हो पाता है। कनूनी अशिक्षा के कारण उन्हें कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। किसी निर्दोष व्यक्ति पर यदि आरोप सिद्ध हो जाये तथा उसे जेल भेज दिया जाये तो उसे न्याय मिलने में अत्यधिक देरी हो जाती है तथा कभी-कभी तो वह अपनी जिंदगी के आखिर पड़ाव पर ही बरी हो पाता है। इसलिए यदि हमें अपनी कानून व्यवस्था एवं न्यायिक तंत्र पर लोगों का विश्वास बनाये रख्ना है तो हमें इसमें आमूल-चूल परिवर्तन करने होंगे।

4.5. प्रस्तावना (Introduction)

भारत के लोकहितकारी वाद न्यायिक तकनीक का आरंभ सन् 1976 में उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्णीत मुंबई कामगार अब्दुल भाई के निर्णय से हुआ। उच्चतम न्यायालय ने अपने निर्णय में जनहित से प्रेरित होकर जनहितकारी वाद का एक नया प्रतिवादन प्रस्तुत किया

लोकहित वाद के अंतर्गत कदरा पहाड़िया बनाम बिहार राज्य का मामला उल्लेखनीय है। इस मामलें में बिहार राज्य की जेलों में बहुत सारे कैदी बिना विचारण के कई वर्षों से बन्द थे।

भारतीय संविधान में संपत्ति के मौलिक अधिकारों को लेकर काफी विवाद होता रहा है। विधायिका, कार्यपालिका तथान्यायपालिकाके बीच संपत्ति के मौलिक अधिकारों के विषय में बराबर टकराव होता रहा है। यही कारण है कि संपत्ति के अधिकारों का संविधान में बार-बार संशोधन किया गया है।

4.6. लोकहितकारी वाद (Public Interest Litigation or P.I.L.)

भारत में लोकहितवाद का प्रारम्भ सन् 1976 में उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्णीत **मुंबई कामगार अब्दुल भाई (A.I. 1976 S.C. 1465)** के निर्णय से हुआ। भारत के संविधान की प्रस्तावना (Preamble) से प्रेरणा लेते हुए उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश माननीय श्री आर. कृष्ण अय्यर ने सर्वप्रथम इस वाद में कामगारों की ओर से प्रतिनिधिक याचिका को स्वीकार करते हुए सुनवाई के अधिकार (Locus standi) के रूढ़िगत नियम को उदार बनाते हुए जन-साधारण को लोकहित में मामलों (Public Interest Litigation) द्वारा न्याय सुलभ कराना प्रारम्भ कर दिया। तब से रिट के आवेदन करने के अधिकार के सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय ने एक नई परिकल्पना शुरू कर दी है। उच्चतम न्यायालय ने यह महसूस किया है कि भारत में बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जो अपने मौलिक अधिकारों को, जिसका कि स्पष्ट उल्लंघन हो रहा है, लागू कराने में अक्षम है और वे शोषण का शिकार हो रहे हैं। यही कारण है कि उच्चतम न्यायालय में अपने निर्णय में जनहित से प्रेरित होकर जनहितकारी वाद का एक नया प्रतिपादन प्रस्तुत किया है, जिसके अन्तर्गत जनहित से प्रेरित कोई भी व्यक्ति या संगठन किसी दूसरे व्यक्ति या संगठन, किसी दूसरे व्यक्ति के मौलिक अधिकार की पूर्ति के लिए, जहाँ वह व्यक्ति अपनी आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक कमजोरी के कारण अपने अधिकारों को लागू करने में असमर्थ है, याचिका दायर कर सकता है, यदि उसके मौलिक अधिकारों का स्पष्ट उल्लंघन हो रहा है।

पिपुल्स यूनियन फॉर डिमोक्रेटिक राईट्स तथा अन्य बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया (A.I.R. 1982 473) के वाद में न्यायमूर्ति भगवती ने जनहित वाद की धारणा को स्पष्ट किया है। न्यायाधीश भगवती ने इस प्रकार के वादों को विधिक सहायता आन्दोलन का एक उपकरण बताया और इस बात पर जोर दिया कि उपेक्षित भी मानवता का एक अंग है जो अपनी हीनता के कारण अधिकारों के उल्लंघन को विवश होकर सहन करता है। ऐसे मामलों में जबकि पीड़ित पक्षकार अपनी आर्थिक, सामाजिक दीनता के कारण तथा अज्ञानतावश इस स्थिति में नहीं होता है कि वह अपने अधिकारों के उल्लंघन को न्यायालय तक पहुँचा सके तो ऐसी अवस्था में उसे सम्यक अनुतोष प्राप्त कराने के लिए समाज का कोई भी व्यक्ति सार्वजनिक हित को समुन्नत करने के लिए आवेदन दायर कर सकता है। विधि का प्रयोजन केवल कुछ भाग्यवानों को न्याय देने के लिये नहीं है, विधि तो सर्वांगीण न्याय के लिये है। गरीबों को भी सिविल तथा राजनैतिक अधिकार प्राप्त है और विधि शासन की यह अपेक्षा है कि सभी को न्याय प्राप्त हो। ऐसी स्थिति में उनको न्याय प्राप्त कराने के लिये जनहितकारी वाद के अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति न्यायालय में आवेदन कर सकता है।

जनहित वाद के अन्तर्गत **कदरा पहाड़िया बनाम बिहार राज्य (A.I.R. 1981 S.C. 934)** का मामला उल्लेखनीय है। इस मामलें में बिहार राज्य के जेलों में बहुत सारे कैदी बिना विचारण (Trial) के कई वर्षों से पड़े थे। बहुत सारे कैदी ऐसे थे जो बिना विचारण के 10-15 वर्षों से जेल में थे। अगर इन कैदियों को सजा भी हो जाती तो उन्हें तीन वर्ष से अधिक जेल की सजा नहीं हो सकती थी। इन कैदियों की दयनीय स्थिति को देखते हुए एक समाजशास्त्री महिला प्रोफेसर ने एक पत्र के माध्यम से उच्चतम न्यायालय का ध्यान आकृष्ट किया था। उच्चतम न्यायालय ने उस पत्र को याचिका के रूप में स्वीकार किया और बिहार सरकार को नोटिस जारी कर ऐसे कैदियों को उन्मुक्त कर देने का आदेश दिया।

इस सम्बन्ध में एक और मामला **सन्त वीर बनाम बिहार राज्य (A.I.R. 1982 S.C. 1470)** का वाद उल्लेखनीय है। इस मामले में आवेदन **फ्री लीगल एड कमिटी हजारीबाग** द्वारा दायर किया गया है। इस मामले में एक अपराधी को पागल अपराधी करार करके उसे लगभग 16 वर्षों तक जेल में रखा गया जबकि वह 7-8 वर्ष पूर्व से ही पूर्ण स्वस्थ हो चुका था और यह बात डाक्टरी जाँच के द्वारा साबित हो चुकी थी और उसकी उन्मुक्ति का आदेश भी हो चुका था, किन्तु फिर भी मुक्त नहीं किया गया। इस तथ्य को लीगल कमिटी हजारीबाग ने उच्चतम न्यायालय को सूचित किया जिसे उच्चतम न्यायालय ने आवेदन मानकर बिहार सरकार को नोटिस जारी कर दिया और अपराधी को मुक्त करने का आदेश दिया।

अत: इस प्रकार के मामले में जहाँ आवेदन पीड़ित पक्षकारों द्वारा नहीं, बल्कि किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा दायर किया गया, उच्चतम न्यायालय ने उसे जनहितकारी वाद मानकर स्वीकार किया और समाज के कमजोर व्यक्तियों को विधि-शासन के अन्तर्गत न्याय दिलाने के लिए एक नया मार्ग प्रशास्त किया।

4.7. भारत के संदर्भ मे लोकहितवाद का इतिहास

(History of P.I.L. with Special reference to India)

मूल अधिकारों के अतिक्रमण होने पर व्यथित व्यक्ति जिसके मूल अधिकार का अतिक्रमण हुआ है अनु० 32 के तहत उच्चतम न्यायालय में मूल अधिकार की रक्षा के लिए आवेदन कर सकता है। आवेदक को यह बताना आवश्यक होता है कि उसके मूल अधिकार को आघात पहुँचाया गया है। मूल अधिकार के अलावा अन्य किसी प्रकार के उल्लंघन पर व्यक्ति अनुच्छेद 32 के तहत आवेदन नहीं कर सकता था। नई व्यवस्था के पहले अनु० 32 के तहत वही व्यक्ति उपचार प्राप्त कर सकता है जिसके मूल अधिकारों का अतिक्रमण हुआ हो। परन्तु उच्चतम न्यायालय ने यह महसूस किया कि आर्थिक रूप से कमजोर व्यक्ति अपने मूल अधिकारों की रक्षा करने में सक्षम नहीं हैं। अत: उच्चतम न्यायालय ने अनु० 32 के तहत याचिका दायर किये जाने के आयाम को विस्तृत किया। उच्चतम न्यायालय ने यह कहा कि अनु० 32 के तहत कोई संस्था या जनहित से प्रेरित होकर कोई नागरिक किसी ऐसे व्यक्ति के मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए रिट दायर कर सकता है जो निर्धनता के कारण न्यायालय में रिट प्रस्तुत करने में सक्षम नहीं हैं। ऐसी स्थिति में दायर किये गये रिट को जनहित याचिका कहा जाता है।

लोकहित वाद न्यायिक सक्रियता (Judicial Activation) की उपज है। कार्यपालिका की निष्क्रियता तथा विधायिका एवं सत्ता में बैठे अन्य प्राधिकारियों के भ्रष्टाचार में लिप्त रहने के कारण सामान्य जनता के हितों की रक्षा नहीं हो पायी। परिणामस्वरूप इन हितों की रक्षा के लिये न्यायपालिका को सक्रिय होना पड़ा। न्यायालय की सक्रियता ने आम नागरिकों के हितों की रक्षा के लिये संविधान के अनु० 32 एवं 226 के आयाम को विस्तृत अर्थ में लिया। सर्वोच्च न्यायालय ने यह महसूस किया कि जब तक अनु० 32 एवं 226 के आयाम को विस्तृत नहीं किया जाएगा, सामान्य जनता के हितों की रक्षा नहीं की जा सकती है।

लोकहित की अवधारणा का श्रेय सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री कृष्णा अय्यर को जाता है। **अखिल भारतीय रेलवे शोषित कर्मचारी संघ बनाम भारत संघ (A.I.R. 1981 S.C.)** के मामले में न्यायमूर्ति श्री कृष्णा अय्यर ने कहा कि वाद लाने का कारण (cause of action) और ''पीड़ित व्यक्ति'' पद की संकुचित धारणा का स्थान अब ''वर्ग कार्यवाही'', ''लोकहित में कार्यवाही'' के रूप में परिवर्तित हो गया है। अब पीड़ित को न्याय दिलाने का दायित्व प्रतिनिधि वाद (Public interest Litigation) ने ले लिया है। इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि-'एक अपंजीकृत संघ भी अनु० 32 के अन्तर्गत रिट दायर कर सकता है, यदि वह सार्वजनिक हित के संरक्षण में ऐसा करना चाहता है। इस प्रकार सामान्य नागरिकों की रक्षा के लिये लोकहित वाद की अवधारणा का जन्म हुआ।

भारतीय संविधान के अनु० 32 के अन्तर्गत जिस व्यक्ति के मूल अधिकार का हनन होता था वही वाद ला सकता था। अर्थात् उसके अधिकार के प्रवर्तन के लिए कोई दूसरा व्यक्ति, संघ या संस्था वाद नहीं ला सकता था। इस बन्धन के कारण निरीह, निर्बल एवं गरीब लोगों को न्याय नहीं मिल पाता था। परन्तु लोकहित वाद की अवधारणा ने स्थिति में परिवर्तन ला दिया है। उच्चतम न्यायालय ने आंग्ल विधि के उक्त नियम को परिवर्तित कर दिया है। अब अनु० 32 के अधीन कोई व्यक्ति या संस्था लोकहित के लिये किसी ऐसे व्यक्ति के संवैधानिक या विधिक अधिकारों के प्रवर्तन के लिए रिट दायर कर सकता है जो निर्धनता या किसी अन्य कारणवश न्यायालय में रिट दायर करने में सक्षम नहीं है। इस प्रकार आधुनिक दृष्टिकोण लोकहित वाद (P.I.L.) के उद्भव और विकास ने प्रथागत नियम को यथेष्ट रूप में शिथिल कर दिया है।

श्री कृष्ण अय्यर के लोकहित वाद की अवधारणा को उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश पी०एन० भगवती ने और अधिक विस्तृत करते हुए हज़ारीबाग की एक समाज सेविका के पत्र को जिसने हजारीबाग के जेल के विचाराधीन कैदियों की दुर्दशा का वर्णन किया गया था, रिट पिटिशन मानकर आदेश पारित किया। न्यायमूर्ति श्री भगवती ने लोकहित के सिद्धान्त का निम्न शब्दों में वर्णन किया-

''यदि कोई व्यक्ति या समाज का वर्ग जिसे विधिक क्षति पहुँचाई गई है या विधि के अधिकारों का हनन हुआ है, अपनी निर्धनता या किसी अन्य कारण से अपने संवैधानिक या विधिक अधिकारों के संरक्षण हेतु न्यायालय में जाने में असमर्थ है तो समाज का कोई अन्य व्यक्ति या संघ उसके विधिक क्षति के निवारण हेतु अनु० 32 के अधीन आवेदन दे सकता है। उक्त परिस्थिति में कोई भी व्यक्ति पत्र लिखकर भी उच्चतम न्यायालय से उपचार मांग सकता है और ऐसी अवस्था में उसे रिट पिटिशन की तकनीकी बारीकियों का पालन करना आवश्यक नहीं है। इस सम्बन्ध में **पीपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया (AIR. 1982, S.C.)** के मामले में याचिकाकर्ता ने एशियाड परियोजना में कार्यरत मजदूरों को कम मजदूरी देने की शिकायत पत्र द्वारा उच्चतम न्यायालय को दी। न्यायालय ने पत्र को ही रिट मानकर उचित मजदूरी के भुगतान का आदेश देते हुए यह कहा कि लोकहित मामलें में समाज का कोई भी व्यक्ति या संस्था आवेदन कर सकता है।

लोकहित के वाद में यह सत्य है कि गरीबों तथा पिछड़े वर्ग के लोगों के लिये न्यायालय सुलभ हुआ है, किन्तु इसके दुरुपयोग को भी नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता। न्यायमूर्ति श्री भगवती ने इस लोकहित वाद के दुरुपयोग से बचने के लिए एक मार्गदर्शन सिद्धान्त प्रतिपादित किया तथा कहा कि इसका यह अर्थ नहीं कि व्यक्ति या संस्था लोकहित वाद की उदारता का अनुचित लाभ उठाये। उन्होंने कहा कि हमें इस मामले में सचेत होकर देखना चाहिए कि जो लोग इस प्रकार के मामले में न्यायालय में आते हैं क्या वे सद्भावनापूर्वक कार्य कर रहे हैं। प्रत्येक मामले में न्यायालय तभी उपचार प्रदान करेगा जब उसे समाधान हो जाएगा कि उसके समक्ष आने वाला व्यक्ति या संस्था सद्भावनापूर्वक कार्य कर रहा है या अपने

व्यक्तिगत लाभ के लिये। न्यायालय को अपनी प्रक्रिया को राजनीतिज्ञों तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा दुरुपयोग की अनुमति नहीं देनी चाहिए।

4.8. 44वे संविधान संशोधन के परिणाम

(Result of 44th Constitutional Amendment)

भारतीय संविधान में सम्पत्ति के मौलिक अधिकारों को लेकर काफी विवाद उठता रहा है। विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के बीच सम्पत्ति के मौलिक अधिकारों के विषय में बराबर टकराव होता रहा है। यही कारण है कि सम्पत्ति के अधिकारों का संविधान में बार-बार संशोधन किया गया है। सर्वप्रथम 1951 में प्रथम संशोधन द्वारा, 1955 में चौथे संशोधन द्वारा तथा 1978 में 44वें संशोधन द्वारा, सम्पत्ति के मौलिक अधिकारों की स्थिति को बार-बार संशोधित किया गया है। मूल अनुच्छेद 31 में यह घोषित किया गया था कि ''किसी भी व्यक्ति को उनकी सम्पत्ति में उस समय तक वंचित नहीं किया जाएगा जब तक कि ऐसा करने के लिए विधि का प्राधिकार प्राप्त न कर लिया जाए और क्षतिपूर्ति की व्यवस्था न कर दी जाए।''

प्रथम संशोधन के द्वारा अनुच्छेद 31 में खण्ड (क) एवं (ख) जोड़ा गया है। इस संशोधन के द्वारा सम्पत्ति के अधिकार के प्रश्न पर न्यायालय का अधिकार सीमित कर दिया गया है। अनु० 31(क) में यह घोषित किया गया है कि राज्य यदि भूमि या अन्य जायदाद सम्बन्धी कोई कानून बनाता है और उससे सम्पत्ति के अधिकार का अगर अतिक्रमण होता है, तब भी वह कानून द्वारा मान्य समझा जाएगा।

अनुच्छेद 31(ख) के द्वारा अनेक नियमों तथा अधिनियमों को नौवीं अनुसूची में डालकर यह व्यवस्था की गई कि नौंवीं अनुसूची में उल्लिखित अधिनियमों की विधि मान्यता को चुनौती नहीं दी जा सकती है।

चौथे संशोधन में इस बात की व्यवस्था की गई है कि सम्पत्ति ग्रहण के बदले राज्य द्वारा क्षतिपूर्ति दी जानी चाहिए। परन्तु क्षतिपूर्ति की वैधता की जाँच न्यायपालिका द्वारा नहीं होगी।

25वें संशोधन के द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि राज्य सार्वजनिक एवं लोकहित को ध्यान में रखते हुए सम्पत्ति का अर्जन कर सकता है तथा बदले में दी जाने वाली राशि की वैधता को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती है। परन्तु **केशवनन्द भारती बनाम केरल राज्य** के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि सम्पत्ति अर्जन के बदले दी जाने वाली राशि मनमाना या नाममात्र की नहीं हो सकती है। 25वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 31(ग) जोड़ा गया है। 42वें संशोधन द्वारा अनु० 31(ग) के क्षेत्र को विस्तृत कर यह उपबन्ध किया गया है कि किसी नीति निर्देशक तत्व को क्रियान्वित करने के लिए यदि राज्य द्वारा सम्पत्ति अर्जन हेतु कोई विधि बनायी जाती है तो उसे अनुच्छेद 14 या अनुच्छेद 19 के तहत प्रश्नगत नहीं किया जा सकता। परन्तु **मिनर्वा मिल्स** के वाद में उच्चतम न्यायालय ने इस विस्तार को शून्य घोषित कर दिया है।

1978 के संविधान के 44वें संशोधन के द्वारा सम्पत्ति के अधिकार से सम्बन्धित अनुच्छेद 19(1)(6) एवं अनुच्छेद 31 को विस्तृत कर दिया गया है। परन्तु अनुच्छेद 31 से मिलता-जुलता प्रावधान अनुच्छेद 300 (क) में संशोधन इस प्रकार किया गया है कि किसी भी व्यक्ति को विधि के प्राधिकार के बिना अपनी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जाएगा। इस प्रकार सरकार कानून बनाकर सम्पत्ति का अधिग्रहण कर सकती है या लोकहित का कार्य, जैसे सरकारी कार्यालय, शैक्षणिक संस्थाएँ, रेलमार्ग, बाँध, नहर, पुल, पुस्तकालय इत्यादि बनाने की आवश्यकता के लिए किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति को अधिगृहीत कर सकती है और यदि व्यक्ति यह समझता है कि ऐसा अधिग्रहण या अर्जन करके सरकार ने उसकी सम्पत्ति

के अधिकार का अतिक्रमण किया है तो वह अनुच्छेद 226 के अन्तर्गत याचिका दायर कर सकता है। इस सम्बन्ध में **बिहार राज्य बनाम कामेश्वर सिंह (A.I.R. 1641 S.C.)** के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि राज्य को सार्वजनिक प्रायोजनों के लिए निजी सम्पत्ति का अधिग्रहण करने का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार 1978 के पहले सम्पत्ति का अधिकार जो सुरक्षित था, 44वें संशोधन के पश्चात् स्थिति में काफी परिवर्तन आ गया है। इस संशोधन के पश्चात् स्थिति यह है कि सम्पत्ति का अधिकार अब मूल अधिकार नहीं रह गया है। परन्तु सरकार द्वारा सम्पत्ति का अर्जन किसी कानूनी प्रक्रिया के अधीन ही कर सकती है। जहाँ तक अर्जन के बदले दी जाने वाली राशि का प्रश्न है तो जिन व्यक्तियों के पास निर्धारित भूमि सीमा के अधीन भूमि है तथा उस पर वे स्वयं कृषि का कार्य करते हैं तो अर्जन की गयी भूमि के बदले बाजार मूल्य की दर पर राशि दी जायेगी।

1978 के चौवालीसवें संविधान संशोधन के पश्चात् सम्पत्ति के अधिकार का स्वरूप इस प्रकार है–

(क) सरकार कानून बनाकर लोकहित के लिए; जैसे–अस्पताल, स्कूल, नहर आदि बनाने के लिए सम्पत्ति का अधिग्रहण कर सकती है। इस सम्बन्ध में **कामेश्वर सिंह बनाम बिहार राज्य (A.I.R. 1951 S.C.)** का वाद उल्लेखनीय है।

(ख) विधायिका पर प्रतिकर (मुआवज़ा) देने का संवैधानिक दायित्व नहीं रहा। परन्तु इसके दो अपवाद छोड़ दिए गए हैं।

(i) यदि अधिग्रहीत की गई भूमि अल्पसंख्यकों द्वारा चलायी जाने वाली शिक्षण संस्थान से सम्बन्धित है तो उसे बाज़ार मूल्य के दर पर मुआवजा दिया जाना आवश्यक है। अनुच्छेद 30(1) (क)

(ii) जिन व्यक्तियों के पास निर्धारित भूमि–सीमा के अधीन भूमि है तथा उस पर वे स्वयं कृषि का कार्य करते हैं तो अर्जन की गई भूमि के बदले बाजार मूल्य की दर पर मुआवजा की राशि दी जाएगी।

आचार्य दुर्गादास बसु ने भारतीय संविधान पर लिखी अपनी पुस्तक में इस उपबन्ध पर अपनी टिप्पणी में कहा है कि ऐसा ही उपबन्ध उस निर्धन व्यक्ति के लिए क्यों नहीं है जिसके पास एक इंच भी कृषि भूमि नहीं है। सिर्फ रात को सिर छुपाने के लिए मात्र एक झोंपड़ी है। क्या वह इस योग्य नहीं है? आचार्य ने आगे चीनी गणतंत्र जैसे साम्यवादी देश के संविधान का हवाला देते हुए कहा है कि चीन के संविधान के अनुच्छेद 39 के अनुसार नागरिकों का गृह–सम्बन्धी अधिकार एक मूल अधिकार है तथा इस अधिकार को किसी भी दशा में छीना नहीं जा सकता। पूर्व सोवियत संघ के संविधान में भी ऐसा ही प्रावधान था।

सारांश (Summary)

- मूल अधिकारों की रक्षा के लिए संविधान के किस अनुच्छेद के तहत आवेदन किया जा सकता है?
- लोकहितवाद न्यायिक सक्रियता का परिणाम है।
- मुम्बई कामगर अब्दुल भाई (A.I. 1976 S.C. 1465) से भारत में जनहित वाद का प्रारम्भ हुआ।
- सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीर श्री कृण अय्यर लोकहितवाद से संबंधित प्रथम चाचिका स्वीकार करते हुए वाद को निर्णीत किया।
- यदि किसी व्यक्ति के मूल अधिकार का अतिक्रमण (हनन) होता है तो संबंधित व्यक्ति मूल अधिकार की रक्षा के लिए उच्चतम न्यायालय में आवेदन कर सकता है।

अभ्यास–प्रश्न (Questions)

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय संविधान के 31वें अनुच्छेंद के अंतर्गत 'जनहित' से क्या तात्पर्य है?

2. जनहित वाद क्या है? जनहितवाद प्रारम्भ का श्रेय किस वाद को जाता है?

3. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें-

(a) बिहार राज्य बनाम कामेश्वर सिंह

(b) केशवनन्द भारती बनाम केरल राज्य

4. 1978 के 44वें संविधान संशोधन के पश्चात् संपत्ति के अधिकार को क्या स्वरूप दिया गया?

5. आचार्य दुर्गादास बसु ने भारतीय संविधान पर लिखी अपनी पुस्तक में क्या टिप्पणी की है?

विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

१. जनहितकारी वाद के उपयोग एवं दुरुपयोग परप्रकाश डालिए।

२. कानूनी सहायता से क्या अभिप्राय है? इससे सम्बन्धित संवैधानिक उपबध क्या हैं?

३. सम्पत्ति के अधिकारों को लेकर संविधान मे बार-बार संशोधन किया गया है। इसका कारण समझाइये।

४. मूल अधिकारों का हनन होने पर, पीड़ित के पास क्या विकल्प है? निर्णीत वादों की सहायता से समझाइये।

बहु-विकल्पीय प्रश्न

1. भारत में जनहितकारी वाद का आरम्भ ..... मे हुआ था।

(a) 1970

(b) 1974

(c) 1976

(d) 1980

2. जनहितकारी वाद से संबंधित प्रथम वाद जो उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्णीत किया गया ..... था।

(a) केशवनन्द भारती बनाम केरल राज्य

(b) बिहार राज्य बनाम कामेश्वर सिंह

(c) मुंबई कामगार अब्दुल भाई

(d) उपरोक्त में से कोई नहीं

3. सम्पत्ति ग्रहण के बदले राज्य द्वारा क्षतिपूर्ति दी जानी चाहिए, इस बात की व्यवव्स्थासंविधान के ..... संशोधन में की गयी है।

(a) प्रथम

(b) द्वितीय

(c) तृतीय

(d) चतुर्थ

4. किस संविधान संशोधन द्वारा सम्पत्ति के अधिकार में आमूल-चूल परिवर्तन हुआ है?

(a) पहले

(b) उन्नीसवें

(c) चौवालीसवें

(d) पच्चीसवें

5. किस मामले में बिहार राज्य में बहुत से कैदी बिना विचारण के राज्य की जेलों में कई वर्षों से पडे थे?

(a) कदरा पहाड़िया बनाम बिहार राज्य

(b) बिहार राज्य बनाम कामेश्वर सिंह

(c) सन्तवीर बनाम बिहार राज्य

(d) उपरोक्त में से कोई नहीं.

6. किन मामलों में एक अपराधी को पागल अपराधी करार देकर उसे लगभग 16 वर्षों तक जेल में रखा गया था।जबकि वह 7-8 वर्ष पूर्व ही पूर्ण रूप से स्वस्थ हो चुका था।

(a) मुम्बई कामगार अब्दुल भाई (b) कदरा पहाड़िया बनाम बिहार राज्य

(c) सन्तवीर बनाम बिहार राज्य (d) उपरोक्त में से कोई नहीं

उत्तर

1. (c) 2. (c) 3. (d) 4. (c) 5. (a) 6. (c)

❑❑❑